www.vitragvani.com

ॐ

परमात्मने नमः

श्री सीमन्धर-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन साहित्य स्मृति संचय, पुष्प नं.

मानव जीवन का महान कर्तव्य

सम्यग्दर्शन

(भाग-2)

परम उपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचनों में से सम्यग्दर्शन सम्बन्धी विभिन्न लेखों का संग्रह

गुजराती संकलन :
ब्रह्मचारी हरिलाल जैन
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

हिन्दी अनुवाद एवं सम्पादन :
पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन
बिजौलियां, जिला भीलवाड़ा (राज०)

प्रकाशक :
श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट
302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस.लि., वी.एल. मेहता मार्ग,
विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400056; फोन : (022) 26130820

सह-प्रकाशक :
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)-364250; फोन : 02846-244334

प्रथम संस्करण : 1000 प्रतियाँ

न्यौछावर राशि :

प्राप्ति स्थान :

1. **श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट,**
   सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250, फोन : 02846-244334
2. **श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट**
   302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, वी. एल. महेता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट),
   मुम्बई-400056, फोन (022) 26130820 Email - vitragva@vsnl.com
3. **श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट (मंगलायतन)**
   अलीगढ़-आगरा मार्ग, सासनी-204216 (उ.प्र.)
   फोन : 09997996346, 2410010/11
4. **पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट,**
   ए-4, बापूनगर, जयपुर, राजस्थान-302015, फोन : (0141) 2707458
5. **पूज्य श्री कानजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट,**
   कहान नगर, लाम रोड, देवलाली-422401, फोन : (0253) 2491044
6. **श्री परमागम प्रकाशन समिति**
   श्री परमागम श्रावक ट्रस्ट, सिद्धक्षेत्र, सोनागिरजी, दतिया (म.प्र.)
7. **श्री सीमन्धर-कुन्दकुन्द-कहान आध्यात्मिक ट्रस्ट**
   योगी निकेतन प्लाट, 'स्वरुचि' सवाणी होलनी शेरीमां,
   निर्मला कोन्वेन्ट रोड, राजकोट-360007
   फोन : (0281) 2477728, मो. 09374100508

टाईप-सेटिंग : **विवेक कम्प्यूटर्स,** अलीगढ़

मुद्रक :

प्रकाशकीय

यह एक निर्विवाद सत्य है कि विश्व का प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है एवं निरन्तर उसी के लिए यत्नशील भी है; तथापि यह भी सत्य है कि अनादि से आज तक के पराश्रित प्रयत्नों में जीव को सुख की उपलब्धि नहीं हुई है।

धार्मिक क्षेत्र में आकर इस जीव ने धर्म के नाम पर प्रचलित अनेक प्रकार के क्रियाकाण्ड-व्रत, तप, नियम, संयम इत्यादि अङ्गीकार करके भी सुख को प्राप्त नहीं किया है। यही कारण है कि वीतरागी जिनेन्द्र परमात्मा की सातिशय वाणी एवं तत्मार्गानुसारी वीतरागी सन्तों की असीम अनुकम्पा से सुखी होने के उपाय के रूप में पर्याप्त दशानिर्देश हुआ है।

वीतरागी परमात्मा ने कहा कि मिथ्यात्व ही एकमात्र दु:ख का मूल कारण है और सम्यग्दर्शन ही दु:ख निवृत्ति का मूल है। मिथ्यात्व अर्थात् प्राप्त शरीर एवं पराश्रित विकारी वृत्तियों में अपनत्व का अभिप्राय /इसके विपरीत, सम्यग्दर्शन अर्थात् निज शुद्ध-ध्रुव चैतन्यसत्ता की स्वानुभवयुक्त प्रतीति।

इस वर्तमान विषमकाल में यह सुख-प्राप्ति का मूलमार्ग प्राय: विलुप्त -सा हो गया था, किन्तु भव्य जीवों के महान भाग्योदय से, वीतरागी प्रभु के लघुनन्दन एवं वीतरागी सन्तों के **परम उपासक अध्यात्ममूर्ति पूज्य सद्गुरुदेवश्री कानजीस्वामी** का इस भारत की वसुधा पर अवतरण हुआ। आपश्री की सातिशय दिव्यवाणी ने भव्य जीवों को झकझोर दिया एवं क्रियाकाण्ड की काली कारा में कैद इस विशुद्ध आध्यात्मिक दर्शन का एक बार पुनरोद्धार किया।

आपश्री की सातिशय अध्यात्मवाणी के पावन प्रवाह को झेलकर उसे रिकार्डिंग किया गया जो आज सी.डी., डी.वी.डी. के रूप में उपलब्ध है। साथ ही आपश्री के प्रवचनों के पुस्तकाकार प्रकाशन भी लाखों की संख्या में उपलब्ध है, जो शाश्वत् सुख का दिग्दर्शन कराने में उत्कृष्ट निमित्तभूत है। इस उपकार हेतु पूज्यश्री के चरणों में कोटिश नमन करते हैं।

इस अवसर पर मुमुक्षु समाज के विशिष्ट उपकारी **प्रशममूर्ति पूज्य बहिनश्री चम्पाबेन** के प्रति अपने अहो भाव व्यक्त करते हुए अत्यन्त प्रसन्नता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद एवं सम्पादन पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलियाँ (राज.) द्वारा किया गया है।

जिन भगवन्तों एवं वीतरागी सन्तों के हार्द को स्पष्ट करनेवाले आपके प्रवचन ग्रन्थों की शृंखला में ब्रह्मचारी हरिलाल जैन, सोनगढ़ द्वारा संकलित प्रस्तुत '**मानव-जीवन का महान कर्तव्य-सम्यग्दर्शन भाग-2**' प्रस्तुत करते हुए हम प्रसन्नता का अनुभव कर रहे हैं।

सभी आत्मार्थी इस ग्रन्थ के द्वारा निज हित साधें — यही भावना है।

निवेदक

ट्रस्टीगण,

श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट, मुम्बई

एवं

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़

निवेदन

स...म्य...ग्द...र्श...न! अहा! जिसका नाम सुनने पर भी आत्मार्थी जीव का हृदय उत्कृण्ठा से उल्लसित हो जाता है—जैसे समीप आ रहे मेघ की गर्जना सुनते ही मयूर की गर्दन उत्कण्ठा से ऊँची हो जाती है। ऐसे सम्यग्दर्शन का स्वरूप तथा उसकी महिमा दर्शानेवाले अनेकविध लेखों का यह दूसरा संग्रह तैयार करके जिज्ञासुओं के हाथ में प्रदान करते हुए आनन्द होता है।

मानव जीवन में सम्यग्दर्शन कितना आवश्यक कर्तव्य है वह समझ में आवे और उस सम्यग्दर्शन का प्रयत्न करने की प्रेरणा जागृत हो... वह इस पुस्तक का उद्देश्य है। इस हेतु से सम्यग्दर्शन सम्बन्धी विविध लेखों का इसमें सङ्कलन किया है। लेखों का चयन विविध कोटि के जीवों को लक्ष्य में रखकर किया गया है।

इस काल में इस भरतक्षेत्र में सम्यग्दर्शन धारक महात्माओं की यद्यपि अत्यन्त विरलता है तथापि मुमुक्षु जीवों के सद्भाग्य से उनका अभाव नहीं है, अभी भी खारे समुद्र में मीठे जल की धारा की तरह कोई-कोई धर्मात्मा इस भारतभूमि में विचरण करते हैं। ऐसे एक पवित्र धर्मात्मा परम कृपालु पूज्यश्री कहान गुरुदेव स्वयं के स्वानुभवपूर्वक भव्य जीवों को सम्यग्दर्शन का स्वरूप समझा रहे हैं। आपश्री की मङ्गलकारी चरणछाया में रहकर सम्यग्दर्शन की परम महिमा का और उसकी प्राप्ति के उपाय का श्रवण करना वह मानव जीवन की कृतार्थता है। परम पूज्य गुरुदेव अपने कल्याणकारी उपदेश द्वारा सम्यग्दर्शन का जो स्वरूप समझा रहे हैं उसी के एक अल्प अंश का इस पुस्तक में संग्रह किया है।

संसार में मनुष्यपना अत्यन्त दुर्लभ है परन्तु सम्यग्दर्शन तो उससे भी अनन्त दुर्लभ है। मनुष्यपना पाकर भी सम्यक्त्वहीन जीव वापस संसार में ही परिभ्रमण करता है... परन्तु सम्यग्दर्शन तो ऐसी चीज है कि एक बार उसकी प्राप्ति करनेवाला जीव अवश्य मोक्ष प्राप्त करता है। इसलिए ऐसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का प्रयत्न करना ही इस दुर्लभ मानव जीवन का महाकर्तव्य है और इसके लिये ज्ञानी धर्मात्माओं का सीधा सत्समागम सबसे बड़ा साधन है। जिसे आत्मदर्शन प्रगट करके इस असार संसार के जन्म-मरण से छूटना हो... और फिर से नयी माता के गर्भ में न रहना हो उसे सत्समागम के सेवनपूर्वक आत्मरस से सम्यग्दर्शन का अभ्यास करना चाहिए।

पौष शुक्ल पूर्णिमा
संवत् २४८६, सोनगढ़

ब्रह्मचारी हरिलाल जैन

अध्यात्मयुगसृष्टा पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

(संक्षिप्त जीवनवृत्त)

भारतदेश के सौराष्ट्र प्रान्त में, बलभीपुर के समीप समागत 'उमराला' गाँव में स्थानकवासी सम्प्रदाय के दशाश्रीमाली वणिक परिवार के श्रेष्ठीवर्य श्री मोतीचन्दभाई के घर, माता उजमबा की कूख से विक्रम संवत् 1946 के वैशाख शुक्ल दूज, रविवार (दिनाङ्क 21 अप्रैल 1890 - ईस्वी) प्रात:काल इन बाल महात्मा का जन्म हुआ।

जिस समय यह बाल महात्मा इस वसुधा पर पधारे, उस समय जैन समाज का जीवन अन्ध-विश्वास, रूढ़ि, अन्धश्रद्धा, पाखण्ड, और शुष्क क्रियाकाण्ड में फँस रहा था। जहाँ कहीं भी आध्यात्मिक चिन्तन चलता था, उस चिन्तन में अध्यात्म होता ही नहीं था। ऐसे इस अन्धकारमय कलिकाल में तेजस्वी कहानसूर्य का उदय हुआ।

पिताश्री ने सात वर्ष की लघुवय में लौकिक शिक्षा हेतु विद्यालय में प्रवेश दिलाया। प्रत्येक वस्तु के ह्रार्द तक पहुँचने की तेजस्वी बुद्धि, प्रतिभा, मधुरभाषी, शान्तस्वभावी, सौम्य गम्भीर मुखमुद्रा, तथा स्वयं कुछ करने के स्वभाववाले होने से बाल 'कानजी' शिक्षकों तथा विद्यार्थियों में लोकप्रिय हो गये। विद्यालय और जैन पाठशाला के अभ्यास में प्राय: प्रथम नम्बर आता था, किन्तु विद्यालय की लौकिक शिक्षा से उन्हें सन्तोष नहीं होता था। अन्दर ही अन्दर ऐसा लगता था कि मैं जिसकी खोज में हूँ, वह यह नहीं है।

तेरह वर्ष की उम्र में छह कक्षा उत्तीर्ण होने के पश्चात्, पिताजी के साथ उनके व्यवसाय के कारण पालेज जाना हुआ, और चार वर्ष बाद पिताजी के स्वर्गवास के कारण, सत्रह वर्ष की उम्र में भागीदार के साथ व्यवसायिक प्रवृत्ति में जुड़ना हुआ।

व्यवसाय की प्रवृत्ति के समय भी आप अप्रमाणिकता से अत्यन्त दूर थे, सत्यनिष्ठा, नैतिज्ञता, निखालिसता और निर्दोषता से सुगन्धित आपका

व्यावहारिक जीवन था। साथ ही आन्तरिक व्यापार और झुकाव तो सतत् सत्य की शोध में ही संलग्न था। दुकान पर भी धार्मिक पुस्तकें पढ़ते थे। वैरागी चित्तवाले कहानकुँवर कभी रात्रि को रामलीला या नाटक देखने जाते तो उसमें से वैराग्यरस का घोलन करते थे। जिसके फलस्वरूप पहली बार सत्रह वर्ष की उम्र में पूर्व की आराधना के संस्कार और मङ्गलमय उज्ज्वल भविष्य की अभिव्यक्ति करता हुआ, बारह लाईन का काव्य इस प्रकार रच जाता है —

शिवरमणी रमनार तूं, तूं ही देवनो देव।

उन्नीस वर्ष की उम्र से तो रात्रि का आहार, जल, तथा अचार का त्याग कर दिया था।

सत्य की शोध के लिए दीक्षा लेने के भाव से 22 वर्ष की युवा अवस्था में दुकान का परित्याग करके, गुरु के समक्ष आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार कर लिया और 24 वर्ष की उम्र में (अगहन शुक्ल 9, संवत् 1970) के दिन छोटे से उमराला गाँव में 2000 साधर्मियों के विशाल जनसमुदाय की उपस्थिति में स्थानकवासी सम्प्रदाय की दीक्षा अंगीकार कर ली। दीक्षा के समय हाथी पर चढ़ते हुए धोती फट जाने से तीक्ष्ण बुद्धि के धारक - इन महापुरुष को शंका हो गयी कि कुछ गलत हो रहा है परन्तु सत्य क्या है? यह तो मुझे ही शोधना पड़ेगा।

दीक्षा के बाद सत्य के शोधक इन महात्मा ने स्थानकवासी और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के समस्त आगमों का गहन अभ्यास मात्र चार वर्ष में पूर्ण कर लिया। सम्प्रदाय में बड़ी चर्चा चलती थी, कि कर्म है तो विकार होता है न? यद्यपि गुरुदेवश्री को अभी दिगम्बर शास्त्र प्राप्त नहीं हुए थे, तथापि पूर्व संस्कार के बल से वे दृढ़तापूर्वक सिंह गर्जना करते हैं — **जीव स्वयं से स्वतन्त्ररूप से विकार करता है; कर्म से नहीं अथवा पर से नहीं। जीव अपने उल्टे पुरुषार्थ से विकार करता है और सुल्टे पुरुषार्थ से उसका नाश करता है।**

विक्रम संवत् 1978 में महावीर प्रभु के शासन-उद्धार का और

हजारों मुमुक्षुओं के महान पुण्योदय का सूचक एक मङ्गलकारी पवित्र प्रसंग बना —

32 वर्ष की उम्र में, विधि के किसी धन्य पल में श्रीमद्भगवत् कुन्दकन्दाचार्यदेव रचित 'समयसार' नामक महान परमागम, एक सेठ द्वारा महाराजश्री के हस्तकमल में आया, इन पवित्र पुरुष के अन्तर में से सहज ही उद्गार निकले — **'सेठ! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।'** इसका अध्ययन और चिन्तवन करने से अन्तर में आनन्द और उल्लास प्रगट होता है। इन महापुरुष के अन्तरंग जीवन में भी परम पवित्र परिवर्तन हुआ। भूली पड़ी परिणति ने निज घर देखा। तत्पश्चात् श्री प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, मोक्षमार्गप्रकाशक, द्रव्यसंग्रह, सम्यग्ज्ञानदीपिका इत्यादि दिगम्बर शास्त्रों के अभ्यास से आपको नि:शंक निर्णय हो गया कि दिगम्बर जैनधर्म ही मूलमार्ग है और वही सच्चा धर्म है। इस कारण आपकी अन्तरंग श्रद्धा कुछ और बाहर में वेष कुछ — यह स्थिति आपको असह्य हो गयी। अत: अन्तरंग में अत्यन्त मनोमन्थन के पश्चात् सम्प्रदाय के परित्याग का निर्णय लिया।

परिवर्तन के लिये योग्य स्थान की खोज करते-करते सोनगढ़ आकर वहाँ 'स्टार ऑफ इण्डिया' नामक एकान्त मकान में महावीर प्रभु के जन्मदिवस, चैत्र शुक्ल 13, संवत् 1991 (दिनांक 16 अप्रैल 1935) के दिन दोपहर सवा बजे सम्प्रदाय का चिह्न मुँह पट्टी का त्याग कर दिया और स्वयं घोषित किया कि **अब मैं स्थानकवासी साधु नहीं; मैं सनातन दिगम्बर जैनधर्म का श्रावक हूँ।** सिंह-समान वृत्ति के धारक इन महापुरुष ने 45 वर्ष की उम्र में महावीर्य उछाल कर यह अद्भुत पराक्रमी कार्य किया।

स्टार ऑफ इण्डिया में निवास करते हुए मात्र तीन वर्ष के दौरान ही जिज्ञासु भक्तजनों का प्रवाह दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया, जिसके कारण यह मकान एकदम छोटा पड़ने लगा; अत: भक्तों ने इन परम प्रतापी सत् पुरुष के निवास और प्रवचन का स्थल **'श्री जैन स्वाध्याय**

मन्दिर' का निर्माण कराया। गुरुदेवश्री ने वैशाख कृष्ण 8, संवत् 1994 (दिनांक 22 मई 1938) के दिन इस निवासस्थान में मंगल पदार्पण किया। यह स्वाध्याय मन्दिर, जीवनपर्यन्त इन महापुरुष की आत्मसाधना और वीरशासन की प्रभावना का केन्द्र बन गया।

दिगम्बर धर्म के चारों अनुयोगों के छोटे बड़े 183 ग्रन्थों का गहनता से अध्ययन किया, उनमें से मुख्य 38 ग्रन्थों पर सभा में प्रवचन किये। जिनमें श्री समयसार ग्रन्थ पर 19 बार की गयी अध्यात्म वर्षा विशेष उल्लेखनीय है। प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, परमात्मप्रकाश, नियमसार, पंचास्तिकायसंग्रह, समयसार कलश-टीका इत्यादि ग्रन्थों पर भी बहुत बार प्रवचन किये हैं।

दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले और कुन्दकुन्दादि आचार्यों के गहन शास्त्रों के रहस्योद्घाटक इन महापुरुष की भवताप विनाशक अमृतवाणी को ईस्वी सन् 1960 से नियमितरूप से टेप में उत्कीर्ण कर लिया गया, जिसके प्रताप से आज अपने पास नौ हजार से अधिक प्रवचन सुरक्षित उपलब्ध हैं। यह मङ्गल गुरुवाणी, देश-विदेश के समस्त मुमुक्षु मण्डलों में तथा लाखों जिज्ञासु मुमुक्षुओं के घर-घर में गुंजायमान हो रही है। इससे इतना तो निश्चित है कि भरतक्षेत्र के भव्यजीवों को पञ्चम काल के अन्त तक यह दिव्यवाणी ही भव के अभाव में प्रबल निमित्त होगी।

इन महापुरुष का धर्म सन्देश, समग्र भारतवर्ष के मुमुक्षुओं को नियमित उपलब्ध होता रहे, तदर्थ सर्व प्रथम विक्रम संवत् 2000 के माघ माह से (दिसम्बर 1943 से) **आत्मधर्म** नामक मासिक आध्यात्मिक पत्रिका का प्रकाशन सोनगढ़ से मुरब्बी श्री रामजीभाई माणिकचन्द दोशी के सम्पादकत्व में प्रारम्भ हुआ, जो वर्तमान में भी गुजराती एवं हिन्दी भाषा में नियमित प्रकाशित हो रहा है। पूज्य गुरुदेवश्री के दैनिक प्रवचनों को प्रसिद्धि करता दैनिक पत्र **श्री सद्गुरु प्रवचनप्रसाद** ईस्वी सन् 1950 सितम्बर माह से नवम्बर 1956 तक प्रकाशित हुआ।

स्वानुभवविभूषित चैतन्यविहारी इन महापुरुष की मङ्गल-वाणी को पढ़कर और सुनकर हजारों स्थानकवासी श्वेताम्बर तथा अन्य कौम के भव्य जीव भी तत्त्व की समझपूर्वक सच्चे दिगम्बर जैनधर्म के अनुयायी हुए। अरे! मूल दिगम्बर जैन भी सच्चे अर्थ में दिगम्बर जैन बने।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा दिगम्बर आचार्यों और मान्यवर, पण्डितवर्यों के ग्रन्थों तथा पूज्य गुरुदेवश्री के उन ग्रन्थों पर हुए प्रवचन-ग्रन्थों का प्रकाशन कार्य विक्रम संवत् 1999 (ईस्वी सन् 1943 से) शुरु हुआ। इस सत्साहित्य द्वारा वीतरागी तत्त्वज्ञान की देश-विदेश में अपूर्व प्रभावना हुई, जो आज भी अविरलरूप से चल रही है। परमागमों का गहन रहस्य समझाकर कृपालु कहान गुरुदेव ने अपने पर करुणा बरसायी है। तत्त्वजिज्ञासु जीवों के लिये यह एक महान आधार है और दिगम्बर जैन साहित्य की यह एक अमूल्य सम्पत्ति है।

ईस्वीं सन् 1962 के दशलक्षण पर्व से भारत भर में अनेक स्थानों पर पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्रवाहित तत्त्वज्ञान के प्रचार के लिए प्रवचनकार भेजना प्रारम्भ हुआ। इस प्रवृत्ति से भारत भर के समस्त दिगम्बर जैन समाज में अभूतपूर्व आध्यात्मिक जागृति उत्पन्न हुई। आज भी देश-विदेश में दशलक्षण पर्व में सैकड़ों प्रवचनकार विद्वान इस वीतरागी तत्त्वज्ञान का डंका बजा रहे हैं।

बालकों में तत्त्वज्ञान के संस्कारों का अभिसिंचन हो, तदर्थ सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 (ईस्वीं सन् 1941) के मई महीने के ग्रीष्मकालीन अवकाश में बीस दिवसीय धार्मिक शिक्षण वर्ग प्रारम्भ हुआ, बड़े लोगों के लिये प्रौढ़ शिक्षण वर्ग विक्रम संवत् 2003 के श्रावण महीने से शुरु किया गया।

सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 - फाल्गुन शुक्ल दूज के दिन नूतन दिगम्बर जिनमन्दिर में कहानगुरु के मङ्गल हस्त से श्री सीमन्धर आदि भगवन्तों की पंच कल्याणक विधिपूर्वक प्रतिष्ठा हुई। उस समय सौराष्ट्र में मुश्किल से चार-पाँच दिगम्बर मन्दिर थे और दिगम्बर जैन तो भाग्य

से ही दृष्टिगोचर होते थे। जिनमन्दिर निर्माण के बाद दोपहरकालीन प्रवचन के पश्चात् जिनमन्दिर में नित्यप्रति भक्ति का क्रम प्रारम्भ हुआ, जिसमें जिनवर भक्त गुरुराज हमेशा उपस्थित रहते थे, और कभी-कभी अतिभाववाही भक्ति भी कराते थे। इस प्रकार गुरुदेवश्री का जीवन निश्चय-व्यवहार की अपूर्व सन्धियुक्त था।

ईस्वी सन् 1941 से ईस्वीं सन् 1980 तक सौराष्ट्र-गुजरात के उपरान्त समग्र भारतदेश के अनेक शहरों में तथा नैरोबी में कुल 66 दिगम्बर जिनमन्दिरों की मङ्गल प्रतिष्ठा इन वीतराग-मार्ग प्रभावक सत्पुरुष के पावन कर-कमलों से हुई।

जन्म-मरण से रहित होने का सन्देश निरन्तर सुनानेवाले इन चैतन्यविहारी पुरुष की मङ्गलकारी जन्म-जयन्ती 59 वें वर्ष से सोनगढ़ में मनाना शुरु हुआ। तत्पश्चात् अनेकों मुमुक्षु मण्डलों द्वारा और अन्तिम 91 वें जन्मोत्सव तक भव्य रीति से मनाये गये। 75 वीं हीरक जयन्ती के अवसर पर समग्र भारत की जैन समाज द्वारा चाँदी जड़ित एक आठ सौ पृष्ठीय अभिनन्दन ग्रन्थ, भारत सरकार के तत्कालीन गृहमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री द्वारा मुम्बई में देशभर के हजारों भक्तों की उपस्थिति में पूज्यश्री को अर्पित किया गया।

श्री सम्मेदशिखरजी की यात्रा के निमित्त समग्र उत्तर और पूर्व भारत में मङ्गल विहार ईस्वी सन् 1957 और ईस्वी सन् 1967 में ऐसे दो बार हुआ। इसी प्रकार समग्र दक्षिण और मध्यभारत में ईस्वी सन् 1959 और ईस्वी सन् 1964 में ऐसे दो बार विहार हुआ। इस मङ्गल तीर्थयात्रा के विहार दौरान लाखों जिज्ञासुओं ने इन सिद्धपद के साधक सन्त के दर्शन किये, तथा भवान्तकारी अमृतमय वाणी सुनकर अनेक भव्य जीवों के जीवन की दिशा आत्मसन्मुख हो गयी। इन सन्त पुरुष को अनेक स्थानों से अस्सी से अधिक अभिनन्दन पत्र अर्पण किये गये हैं।

श्री महावीर प्रभु के निर्वाण के पश्चात् यह अविच्छिन्न पैंतालीस वर्ष का समय (वीर संवत् 2461 से 2507 अर्थात् ईस्वी सन् 1935 से 1980)

वीतरागमार्ग की प्रभावना का स्वर्णकाल था। जो कोई मुमुक्षु, अध्यात्म तीर्थधाम स्वर्णपुरी / सोनगढ़ जाते, उन्हें वहाँ तो चतुर्थ काल का ही अनुभव होता था।

विक्रम संवत् 2037, कार्तिक कृष्ण 7, दिनांक 28 नवम्बर 1980 शुक्रवार के दिन ये प्रबल पुरुषार्थी आत्मज्ञ सन्त पुरुष — देह का, बीमारी का और मुमुक्षु समाज का भी लक्ष्य छोड़कर अपने ज्ञायक भगवान के अन्तरध्यान में एकाग्र हुए, अतीन्द्रिय आनन्दकन्द निज परमात्मतत्त्व में लीन हुए। सायंकाल आकाश का सूर्य अस्त हुआ, तब सर्वज्ञपद के साधक सन्त ने मुक्तिपुरी के पन्थ में यहाँ भरतक्षेत्र से स्वर्गपुरी में प्रयाण किया। वीरशासन को प्राणवन्त करके अध्यात्म युग सृजक बनकर प्रस्थान किया।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी इस युग का एक महान और असाधारण व्यक्तित्व थे, उनके बहुमुखी व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने सत्य से अत्यन्त दूर जन्म लेकर स्वयंबुद्ध की तरह स्वयं सत्य का अनुसन्धान किया और अपने प्रचण्ड पुरुषार्थ से जीवन में उसे आत्मसात किया।

इन विदेही दशावन्त महापुरुष का अन्तर जितना उज्ज्वल है, उतना ही बाह्य भी पवित्र है; ऐसा पवित्रता और पुण्य का संयोग इस कलिकाल में भाग्य से ही दृष्टिगोचर होता है। आपश्री की अत्यन्त नियमित दिनचर्या, सात्विक और परिमित आहार, आगम सम्मत्त संभाषण, करुण और सुकोमल हृदय, आपके विरल व्यक्तित्व के अभिन्न अवयव हैं। शुद्धात्मतत्त्व का निरन्तर चिन्तवन और स्वाध्याय ही आपका जीवन था। जैन श्रावक के पवित्र आचार के प्रति आप सदैव सतर्क और सावधान थे। जगत् की प्रशंसा और निन्दा से अप्रभावित रहकर, मात्र अपनी साधना में ही तत्पर रहे। आप भावलिंगी मुनियों के परम उपासक थे।

आचार्य भगवन्तों ने जो मुक्ति का मार्ग प्रकाशित किया है, उसे इन रत्नत्रय विभूषित सन्त पुरुष ने अपने शुद्धात्मतत्त्व की अनुभूति के आधार

से सातिशय ज्ञान और वाणी द्वारा युक्ति और न्याय से सर्व प्रकार से स्पष्ट समझाया है। द्रव्य की स्वतन्त्रता, द्रव्य-गुण-पर्याय, उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार, क्रमबद्धपर्याय, कारणशुद्धपर्याय, आत्मा का शुद्धस्वरूप, सम्यग्दर्शन, और उसका विषय, सम्यग्ज्ञान और ज्ञान की स्व-पर प्रकाशकता, तथा सम्यक्चारित्र का स्वरूप इत्यादि समस्त ही आपश्री के परम प्रताप से इस काल में सत्यरूप से प्रसिद्धि में आये हैं। आज देश-विदेश में लाखों जीव, मोक्षमार्ग को समझने का प्रयत्न कर रहे हैं - यह आपश्री का ही प्रभाव है।

समग्र जीवन के दौरान इन गुणवन्ता ज्ञानी पुरुष ने बहुत ही अल्प लिखा है क्योंकि आपको तो तीर्थङ्कर की वाणी जैसा योग था, आपकी अमृतमय मङ्गलवाणी का प्रभाव ही ऐसा था कि सुननेवाला उसका रसपान करते हुए थकता ही नहीं। दिव्य भावश्रुतज्ञानधारी इस पुराण पुरुष ने स्वयं ही परमागम के यह सारभूत सिद्धान्त लिखाये हैं :—

❖ एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्पर्श नहीं करता। ❖ प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध ही होती है। ❖ उत्पाद, उत्पाद से है; व्यय या ध्रुव से नहीं। ❖ उत्पाद, अपने षट्कारक के परिणमन से होता है। ❖ पर्याय के और ध्रुव के प्रदेश भिन्न हैं। ❖ भावशक्ति के कारण पर्याय होती ही है, करनी नहीं पड़ती। ❖ भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है। ❖ चारों अनुयोगों का तात्पर्य वीतरागता है। ❖ स्वद्रव्य में भी द्रव्य-गुण-पर्याय का भेद करना, वह अन्यवशपना है। ❖ ध्रुव का अवलम्बन है परन्तु वेदन नहीं; और पर्याय का वेदन है, अवलम्बन नहीं।

इन अध्यात्मयुगसृष्टा महापुरुष द्वारा प्रकाशित स्वानुभूति का पावन पथ जगत में सदा जयवन्त वर्तो!

तीर्थङ्कर श्री महावीर भगवान की दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले शासन स्तम्भ श्री कहानगुरुदेव त्रिकाल जयवन्त वर्तो!!

सत्पुरुषों का प्रभावना उदय जयवन्त वर्तो!!!

❖ ❖ ❖

अनुक्रमणिका

लेख	पृष्ठ
नूतन वर्ष का मंगल सन्देश और सन्तों का आशीर्वाद.....	१
शुद्धात्मा की धगशवाले जिज्ञासु शिष्य को.....	२
मानव जीवन में आत्मा की समझ करनेयोग्य है.....	३
सुख के सम्बन्ध में विचार.....	६
सम्यग्दर्शन की दुर्लभता और अपूर्वता.....	९
शुद्धस्वभाव का आदर करने से ही सम्यग्दर्शन.....	११
जिन्हें भवरहित होना हो वे अनुभव का अभ्यास करो.....	१९
आत्मा का अनुभव कर!.....	२०
भेदविज्ञान की महिमा.....	२४
विरले जीव ही आत्मा को जानते हैं.....	२५
हे जीव! शरीर से भिन्न चैतन्य की शरण कर.....	३०
वंदित्तु सव्वसिद्धे.....	३२
आत्मा को प्रसन्न करने की धगश.....	३७
श्रावकों तथा श्रमणों का कर्तव्य.....	३९
सन्तों के अनुभव का सार.....	५२
भरतजी के साथ आध्यात्मिक तत्त्वचर्चा.....	५५
ज्ञानज्योति की झनझनाहट.....	६४
आत्मज्ञ, वह शास्त्रज्ञ.....	६६
शुद्ध आत्मा के प्रति अपार उत्साह.....	६८
धन्य जीवन.....	७२
समयसार के श्रोता का कर्तव्य.....	७८
सम्यक्त्व के निमित्त.....	८०
विरला.....	८८

लेख	पृष्ठ
परमात्मा का प्रतिबिम्ब.....	८९
सच्चा इनाम.....	९०
शुद्धात्म-प्राप्ति की दुर्लभता.....	९४
श्रेणिक राजा तीर्थङ्कर : किसका प्रताप.....	१००
मोक्षार्थी को मुक्ति का उल्लास.....	१०१
महादुर्लभ मानव जीवन.....	१०५
भव-भ्रमण का भय.....	११७
पुरुषार्थ उत्तेजक होते हैं ज्ञानी के वचन.....	१२२
परमात्म भावना.....	१२५
धर्म की बढ़ती धारा.....	१२७
रत्नत्रय का भक्त.....	१२९
मुमुक्षु को सेवनयोग्य दो साधन.....	१४२
श्रीमद् राजचन्द्र का एक पत्र.....	१४३
आत्मस्वभाव में अभेददृष्टि ही ज्ञानियों को सम्मत.....	१४४
विकल्प के अभावरूप परिणमन अर्थात् निर्विकल्प शुद्धात्मानुभव कब ?.....	१५३
शुद्धात्मा के निर्विकल्प अनुभव के लिये.... लालायित शिष्य.....	१५६
आत्मार्थी जीव का उत्साह और आत्मलगन.....	१५९
आत्मार्थी जीव का उत्साह और आत्मलगन.....	१७१
आत्मार्थी जीव का उत्साह और आत्मलगन.....	१८१

ॐ

परमात्मने नमः

मानव जीवन का महान कर्त्तव्य

सम्यग्दर्शन

(भाग-2)

नूतन वर्ष का मंगल सन्देश
और
सन्तों का आशीर्वाद

वीर संवत् २४७८ के नूतन वर्ष के सुप्रभात में मङ्गल सन्देश में पूज्य गुरुदेवश्री ने कहा था कि —

जगत की महिमा छूटकर अन्तर में आत्मा के चिदानन्दस्वभाव की महिमा जमना, वह आत्मा का मङ्गल नूतन वर्ष है.... उस स्वभाव में से ही समस्त निर्मलपर्यायें आती हैं। आत्मा के परमपारिणामिकस्वभाव की महिमा करके, उसमें गहरे उतरते-उतरते सम्यग्दर्शन से लेकर सिद्धदशा तक की समस्त निर्मलपर्यायें प्रगट हो जाती हैं; वही आनन्दमय नूतन वर्ष है। ऐसा आनन्दमय नूतन वर्ष प्रगट करने के लिये आत्मस्वभाव की परम महिमा... उसकी रुचि... और उसमें सन्मुख होकर लीनता... यही आत्मार्थी जीवों का कर्तव्य है और उसके लिये ही सन्तों का आशीर्वाद है।

✦✦✦

www.vitragvani.com

शुद्धात्मा की धगशवाले जिज्ञासु शिष्य को.....

जिसे शुद्ध आत्मा समझने की धगश जागृत हुई है — ऐसे जिज्ञासु शिष्य को प्रश्न उत्पन्न होता है कि 'ऐसा शुद्ध आत्मा कौन है कि जिसका स्वरूप जानना चाहिए।' अनन्त-अनन्त काल से आत्मा के शुद्धस्वभाव की बात सुनी नहीं, रुचि नहीं, जानी नहीं, अनुभव नहीं की परन्तु अब उसकी जिज्ञासा जागृत हुई है, इस कारण शिष्य प्रश्न करता है कि आत्मा का शुद्धस्वभाव कैसा है ? ऐसे जिज्ञासु शिष्य को आचार्यदेव शुद्धात्मा का स्वरूप समझाते हैं।

जैसे रण में किसी को पानी की तृषा लगी है, पानी पीने की छटपटाहट हुई है, वह पानी की निशानी सुने, तब उसे कैसी उत्कण्टा होती है! और फिर पानी पीकर कितना तृप्त होता है! उसी प्रकार जिसे आत्मस्वरूप जानने की छटपटाहट हुई है, वह शुद्धात्मा की बात सुनते ही कितना आनन्दित होता है! और फिर सम्यक् पुरुषार्थ करके आत्मस्वरूप पाकर कितना तृप्त होता है! जिसे शुद्ध आत्मस्वरूप को जानने की तीव्र जिज्ञासा हुई है, उसे समयसार सुनाया जाता है। आत्मा समझने के लिये जिसे अन्तर में वास्तव में धगश और छटपटाहट जागृत हो, उसे अन्तर में समझ का मार्ग हुए बिना रहता ही नहीं।

✦✦✦

www.vitragvani.com

ज्ञानी का उपदेश आत्मा की पहचान करने का है

मानव जीवन में आत्मा की समझ करनेयोग्य है

ज्ञानी का उपदेश आत्मा की पहचान करने का है। सत्समागम में उसकी पहचान करना चाहिए। अनन्त-अनन्त काल से यह आत्मा है, तो वह कैसा है? उसे पहचानने की दरकार करनी चाहिए। मनुष्यदेह अनन्त काल में मिलती है, उसमें आत्मा को समझने की गरज करनी चाहिए, सत्समागम से बारम्बार उसका परिचय करके समझना चाहिए। उसकी पहचान करना ही मनुष्यदेह में आने का वास्तविक फल है। वरना पुण्य करके स्वर्ग में जाये अथवा पाप करके नरक में जाये, वह कोई नया नहीं है।

अहो! ऐसी मनुष्यदेह प्राप्त हुई और यदि आत्मा को न जाने तो अवतार व्यर्थ है। जैसे सर्वव्यापी आकाश को हाथ में समाहित करना कठिन है; उसी प्रकार आत्मस्वभाव का वर्णन, वाणी द्वारा करना कठिन है, तथापि जो जीव दरकार करके उसे समझना चाहता है, उस जीव को सत्समागम से ज्ञान में समझ में आता है। अनन्त जीव उसे समझकर मुक्त हुए हैं, वर्तमान में भी आत्मा को समझनेवाले हैं, और भविष्य में भी अनन्त होंगे। पुण्य और पाप तो पूरी दुनिया करती है परन्तु आत्मा की समझ करनेवाले कोई विरले ही होते हैं। पर में सुख माने और सुख के लिये पर की दासता माने, वह तो भिखारी है, कोई लाखों रुपये माँगे, कोई हजार माँगे, कोई सौ माँगे; अधिक माँगे, वह बड़ा भिखारी है और थोड़ा माँगे, वह छोटा भिखारी है; और ऐसा समझे कि मैं आत्मा हूँ, मुझे कुछ नहीं

www.vitragvani.com

चाहिए, मेरा सुख मुझमें है, मुझे तो अब आत्मा समझना है — जो ऐसी भावना करता है, वह महा बादशाह है। भले गृहस्थाश्रम में हो, तथापि अन्तर में आत्मा का भान करता है, वह धर्मात्मा है और उसे जन्म-मरण का अन्त आ जायेगा।

जिस प्रकार पर्वत पर बिजली गिरे और दो टुकड़े हो जायें, फिर वे वापस जुड़ते नहीं हैं; उसी प्रकार जो जीव एक सैकेण्ड भी आत्मा की समझ करता है, उसका संसार टूट जाता है। जिस प्रकार किसी पर के घर लक्ष्मी का ढेर देखकर 'यह लक्ष्मी मेरी' - ऐसा चतुर लोग नहीं मानते; उसी प्रकार धर्मी जीव इन शरीरादि को या पुण्य-पाप के भावों को अपना स्वरूप नहीं मानते।

— ऐसे आत्मा को जाने बिना किसी प्रकार कल्याण नहीं होगा, जिसने आत्मा को नहीं जाना और पैसे का गुलाम हो रहा है, वह बड़ा भिखारी है।

जैनदर्शन में सात तत्त्व हैं — जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, और मोक्ष।

जो जानता है, वह **जीव** है।

शरीर इत्यादि **अजीव** हैं। उनमें ज्ञान नहीं है।

मिथ्यात्व, पुण्य-पाप इत्यादि **आस्रव** हैं।

पुण्य-पाप इत्यादि विकार में अटकना, वह **बन्धन** है।

उन पुण्य-पापरहित चैतन्यमूर्ति आत्मा की पहचान करके उसमें स्थिर होना, वह **संवर-निर्जरारूप धर्म** है; और

सम्पूर्ण शुद्धदशा प्रगट हो जाना, वह **मोक्ष** है।

www.vitragvani.com

इन सात तत्त्वों को जानकर, आत्मा का विश्वास और आदर करना चाहिए। बहुत विवेक से, बहुत सत्समागम से, बहुत पात्रता से और बहुत रुचि से आत्मा समझ में आता है। आत्मा ऐसा नहीं कि समझ में नहीं आये। यदि आत्मा न समझा जा सके, तब तो धर्म ही कहाँ से होगा? इस जगत् में लाखों रुपये मिलें या स्वर्ग मिले, वह दुर्लभ नहीं है; आत्मा की समझ ही दुर्लभ है। इस मानव जीवन में ऐसे आत्मा की समझ करनेयोग्य है।

वन-जंगल में बसनेवाले और चैतन्य को साधनेवाले मुनिवरों के अन्तर में से आनन्द में झूलते-झूलते ऐसे रणकार उठे कि इस आत्मस्वभाव की महिमा जगत में जयवन्त वर्तो और जगत के जीव उसे पहचानो। जगत् के जीवों को यह एक चैतन्यतत्त्व ही शरणरूप है।

✦✦✦

www.vitragvani.com

सुख के सम्बन्ध में विचार

हे भाई! तुझे सुखी तो होना है न! सुख के स्वरूप के विषय में तूने कभी विचार किया है? तू अकेला विचार करके देख कि तूने जिन-जिन परविषयों में सुख माना है, उन-उन विषयों में आगे-आगे जाने पर अन्ततः क्या परिणाम आता है? खाने-पीने इत्यादि किसी भी विषय में अन्ततः तो उकताहट ही आती है और उसे छोड़कर उपयोग दूसरे विषय की ओर जाता है। इस प्रकार यदि विषयों के भोगने में अरुचि ही आ जाती है तो तू समझ ले कि उनमें वास्तव में तेरा सुख था ही नहीं परन्तु तूने मात्र कल्पना से ही सुख माना था। यदि वास्तव में सुख होवे तो उसे भोगते-भोगते कभी किसी को उकताहट आवे ही नहीं। देखो, सिद्ध भगवन्तों को आत्मा का सच्चा सुख है; अतः उन्हें वह सुख भोगते-भोगते अनन्त काल में भी उकताहट नहीं आती।

हे आत्मार्थी! आत्मा के अतिरिक्त किसी भी बाह्य विषय में सुख नहीं है, यह बात यदि तू जरा-सा विचार करके देखे तो तुझे प्रत्यक्ष अनुभवगम्य होने योग्य है। जैसे कि तूने लड्डू खाने में सुख माना; एक लड्डू खाया... दो खाये, तीन... चार... खाये... अन्ततः ऐसा होता है कि अब बस, अब लड्डू खाने में सुख नहीं लगता। तो समझ ले कि बाद में जिसमें सुख का अभाव भासित हुआ, उसमें पहले से ही सुख का अभाव है; इस प्रकार लड्डू के स्थान पर कोई भी परविषय लेकर विचार करने पर निश्चित होगा कि इन विषयों में सुख नहीं है परन्तु आत्मस्वभाव में ही सुख है। इस स्वभावसुख का निर्णय करके उसकी हाँ कर और विषयों में सुख की बुद्धि छोड़।

www.vitragvani.com

जिसमें वास्तव में सुख हो, उसमें चाहे जितने आगे ही आगे जाने पर कभी भी उकताहट नहीं आती। स्वभाव में सुख है तो उसमें जैसे-जैसे आगे बढ़ता है, वैसे-वैसे सुख बढ़ता है... तथा उकताहट नहीं आती और विषय-सुखों में उकताहट आये बिना नहीं रहती।

परविषय दो प्रकार के हैं - शुभ-अशुभ। पाप के भाव में तो उकताहट है और मन्दिर, भक्ति, दया इत्यादि शुभ के भाव में भी लम्बाते-लम्बाते अन्ततः थकता है और वहाँ से हटने का मन होता है। यदि उस शुभ में सुख होता तो वहाँ से हटने का मन क्यों होता है ? अज्ञानी जीव, शुभ से हटकर शुद्ध में नहीं जाता परन्तु शुभ से हटकर वापस अशुभ में जाता है, अर्थात् परसन्मुख के विषयों में ही रहकर शुभ और अशुभ में ही फुदकता है परन्तु 'अभी तक पर सन्मुखता में रहा, तथापि कहीं भी सुख अनुभव में नहीं आया; इसलिए परसन्मुखता के झुकाव में सुख नहीं, अर्थात् इन्द्रिय-विषयों में सुख नहीं परन्तु स्वसन्मुख के अन्तर्मुख अवलोकन में ही सुख है - अतीन्द्रियज्ञान में ही सुख है' — ऐसा निर्णय करके, यदि स्वसन्मुख झुके तो सिद्ध भगवान जैसे आत्मा के सुख का अनुभव प्रगट हो और विषयों में से रुचि हट जाये। इस दशा का नाम धर्म है।

हे भाई! अन्ततः दीर्घ काल में भी तुझे विषयों में (शुभ या अशुभ में) थककर उनमें सुख से इनकार करना पड़ता है तो वर्तमान में ही स्वभाव के सुख की हाँ करके विषयों में सुख की ना कर न! विषयों के लक्ष्य से विषयों के सुख की ना करता है; इसलिए वह 'ना' टिकती नहीं और फिर से दूसरे इन्द्रिय-विषयों

www.vitragvani.com

में ही तू लीन होता है। यदि स्वभाव के अतीन्द्रियसुख की रुचि से हाँ करके उन विषय-सुख की ना करे तो वह 'हाँ' और 'ना' दोनों यथार्थ टिकेगी और आगे जाने पर पूर्ण अतीन्द्रिय केवलसुख प्रगट होगा।

इस प्रकार आत्मार्थी को पहले से ही स्वलक्ष्य से इन्द्रिय की ओर के झुकाव में से आदरबुद्धि मिट जानी चाहिए और अतीन्द्रिय सुख की परम आदरपूर्वक श्रद्धा होनी चाहिए, यही अतीन्द्रिय सुख प्रगट होने का उपाय है।

✦✦✦

आत्मकल्याण की अपूर्व बात

आत्मकल्याण की बात अपूर्व है; झट न समझ में आये तो इसमें अरुचि या उकताहट नहीं लाना परन्तु विशेष अभ्यास करना। 'यह मेरे आत्मा की अपूर्व बात है', यह समझने से ही कल्याण है। ऐसे अन्तर में इसकी महिमा लाकर रुचि से श्रवण-मनन करना, सब आत्मा में यह समझने की ताकत है। मैं पुरुष हूँ, मैं स्त्री हूँ, मैं वृद्ध हूँ, मैं बालक हूँ - ऐसी शरीरबुद्धि को छोड़कर अन्तर में ऐसा लक्ष्य करना कि मैं आत्मा हूँ, शरीर से भिन्न ज्ञानस्वरूप हूँ, प्रत्येक आत्मा भगवान है - ज्ञानस्वरूपी है, उसमें पूरा-पूरा समझने की ताकत भरी है। इसलिए 'मुझे समझ में नहीं आता' - ऐसी शल्य निकालकर 'मुझे सब समझ में आता है' - ऐसी मेरी ताकत है और यह समझने से ही मेरा हित है — ऐसा दृढ़ निर्णय करके समझने का प्रयत्न करना। रुचिपूर्वक प्रयत्न करे, उसे न समझ में आये, ऐसा नहीं होता। इसमें बुद्धि के उघाड़ की बहुत जरूरत नहीं परन्तु रुचि की जरूरत है।

— भेदविज्ञानसार, पूज्य गुरुदेवश्री

www.vitragvani.com

सम्यग्दर्शन की दुर्लभता और अपूर्वता

अनन्त-अनन्त काल में मनुष्यपना मिलना कठिन है। मनुष्यपने में ऐसी सत्यधर्म की बात कभी-कभी ही सुनने को मिलती है। अभी तो लोगों को यह बात एकदम नयी है। ऐसी सत्य बात सुनने को मिलना महादुर्लभ है, सुनने के पश्चात् बुद्धि में उसका ग्रहण होना दुर्लभ है, 'यह क्या स्वभाव कहना चाहते हैं' — ऐसा ज्ञान में पकड़ना दुर्लभ है; ग्रहण होने के पश्चात् उसकी धारणा होना दुर्लभ है। सुनते समय अच्छा लगे और बाहर निकले तो सब भूल जाये तो उसे आत्मा में लाभ कहाँ से होगा? श्रवण, ग्रहण और धारणा करने के पश्चात् एकान्त में स्वयं अपने अन्तर में मन्थन करके सत्य का निर्णय करे, वह दुर्लभ है परन्तु सत्य बात सुनी ही न हो, वह ग्रहण क्या करे और धारणा किसकी करे तथा अन्तर में क्या विचार करे? अन्तर में यथार्थ निर्णय करके, उसे रुचि में परिणमित करके, सम्यग्दर्शन प्रगट करना महान दुर्लभ / अपूर्व है। इस सम्यग्दर्शन के बिना किसी भी प्रकार से जीव का कल्याण नहीं होता है।

देखो, इसमें शुरुआत का उपाय कहा है। पहले तो संसार की लोलुपता घटाकर तत्त्व श्रवण करने के लिये निवृत्ति लेनी चाहिए। श्रवण, ग्रहण, धारणा, निर्णय और रुचि में परिणमन - इतने बोल आये हैं। यह प्रत्येक एक से एक दुर्लभ है। श्रवण करके विचार करे कि मैंने आज क्या श्रवण किया? नया क्या समझ में आया? ऐसा अन्तर में प्रयत्न करके समझे तो आत्मा की रुचि जागृत हो

www.vitragvani.com

और तत्त्व समझ में आये परन्तु जिसे तत्त्व का श्रवण, ग्रहण और धारणा का ही अभाव है, उसे तो सत्स्वभाव की रुचि नहीं होती और रुचि के बिना उसका परिणमन कहाँ से होगा ? रुचि के बिना सत्य समझ में नहीं आता और धर्म नहीं होता।

भगवान ने कहा है अथवा ज्ञानी कहते हैं, इसलिए यह बात सत्य है – ऐसे पर के लक्ष्य से सत् को माने तो वह शुभभाव है, वह भी सच्चा ज्ञान नहीं है; पहले देव-गुरु के लक्ष्य से वैसा राग होता है, परन्तु देव-गुरु का लक्ष्य छोड़कर, अपने अन्तरस्वभाव में झुककर, रागरहित निर्णय करे कि मेरा आत्मस्वभाव ही ऐसा है तो उसके आत्मा में सच्चा ज्ञान हुआ है। उससे सत्समागम या श्रवण इत्यादि का निषेध नहीं है, सत्समागम से सत्धर्म का श्रवण किये बिना कोई जीव आगे नहीं बढ़ सकता परन्तु उन श्रवणादि के पश्चात् आगे बढ़ने के लिये यह बात है। मात्र श्रवण करने में धर्म न मानकर ग्रहण, धारणा और निर्णय करके आत्मा में रुचि से परिणमित करना चाहिए। *(भेदविज्ञानसार में से)*

✦✦✦

अर्ध श्लोक में मुक्ति का उपदेश

चिद्रूपः केवलः शुद्धः आनंदात्मेत्यहं स्मरे।
मुक्त्यै सर्वज्ञोपदेशः श्लोकार्धेन निरूपितः ॥२२॥

मैं चिद्रूप केवल, शुद्ध, आनन्दस्वरूप हूँ – ऐसा स्मरण करता हूँ, मुक्ति के लिये सर्वज्ञ का उपदेश इस अर्ध श्लोक से निरुपित है।

(तत्त्वज्ञानतरंगिणी, अध्याय ७)

www.vitragvani.com

शुद्धस्वभाव का आदर करने से ही सम्यग्दर्शन

आत्मा का स्वभाव, वही 'शुद्धभाव' है और वही आदरणीय है; अन्तर्मुख होकर उस शुद्धस्वभाव को मानना, वह सम्यग्दर्शन है। आत्मा का शुद्धस्वभाव, पर से पृथक् और विकार से रहित किस प्रकार है ? — वह जानकर उसकी रुचि करना, श्रद्धा करना, वह सम्यग्दर्शन है। स्वभाव क्या और परभाव क्या ? — यह जाने बिना स्वभाव की रुचि नहीं होती; पर की महिमा नहीं मिटती और वहाँ तक जीव को धर्म नहीं होता।

जीव अपने स्वभाव को भूलकर पर की कैसी भी रुचि करे और कर्तापने की खलबलाहट करे परन्तु इससे परचीज कहीं अपनी नहीं हो जाती, और स्वयं परचीज का कुछ नहीं कर सकता। अपने स्वभाव की पूर्णता की महिमा जानी नहीं और विकार से तथा पर से अपनी महिमा मान रहा है। शुभभाव करे, वहाँ तो मैंने बहुत किया — ऐसा मान लेता है और इच्छानुसार बाहर में अनुकूलता देखे, वहाँ तो मानो मैं इससे भरपूर हूँ, परन्तु उस अज्ञानी को पता नहीं है कि ज्ञान-सुख से भरपूर तो अपना स्वभाव ही है और वही अपने को शरणभूत है; बाहर की कोई वस्तु किञ्चित् भी शरणभूत नहीं है और विकार भी शरणभूत नहीं है।

जिसे अपने स्वभाव की, विकार से और पर से भिन्नता भासित नहीं होती और विकार में तथा पर में ही एकाकारपना मान रहा है, वह अपने शुद्धभाव को उपादेय नहीं जानता, वह मिथ्यादृष्टि है; और जो जीव अपने शुद्धभाव को विकार से और पर से पृथक् जानकर उपादेय मानता है, वह धर्मात्मा / सम्यग्दृष्टि है।

www.vitragvani.com

इस जीव को परवस्तुएँ किंचित् भी शरणभूत नहीं है परन्तु 'मुझे परवस्तुएँ शरणभूत नहीं हैं और उनमें मेरा सुख नहीं है' - ऐसा अज्ञानी को मूढ़दृष्टि से दिखता नहीं है। स्वयं सदा ही परिपूर्ण भगवानस्वरूप अन्तर में स्थित है, उसे तो भूल ही जाता है और वर्तमान में अशुभ छोड़कर शुभपरिणाम करे, वहाँ तो स्वयं भरपूर होवें — ऐसा अज्ञानी को लगता है परन्तु श्रीगुरु कहते हैं कि भाई! पुण्य तेरा स्वरूप नहीं है; पुण्य किया इससे तेरे आत्मा की महत्ता नहीं है, तेरा आत्मा तो अभी ही पुण्य-पापरहित एकरूप ज्ञानभाव से भरपूर है, उसमें ही तेरा सुख है, वही तुझे उपादेय है। तू उसे भूलकर, पुण्य-पाप में तेरा एकत्व मान रहा है और उसमें सुख मानता है परन्तु भाई! इस विपरीत मान्यता से तो करोड़ों काले बिच्छु के डंक की वेदना से भी अधिक दुःख की वेदना तू भोग रहा है; इसलिए शुद्धस्वभाव के अभ्यास द्वारा इस मान्यता को छोड़ तो सम्यग्दर्शन होने पर तुझे परम सुख का वेदन होगा।

जो शुभ या अशुभपरिणाम होते हैं, वे आत्मा के मूलस्वरूप में नहीं परन्तु पर्याय में ऊपर-ऊपर होनेवाले विकारभाव हैं और ऊपर-ऊपर होनेवाले भावों जितना आत्मा को न मानकर, तू अन्तर के मूलस्वरूप को देख। जैसे समुद्र के पानी में कहीं मलिन लहर दिखायी दे परन्तु कहीं पूरा समुद्र मलिन नहीं है; क्षणिक मलिन लहर सम्पूर्ण समुद्र को मलिन करने में समर्थ नहीं है, मलिन लहरों के समय भी समुद्र तो निर्मल है; इसी प्रकार यह आत्मा, चैतन्य समुद्र है, इसकी वर्तमान दशा में जो मलिनता दिखती है, वह क्षणिक है, सम्पूर्ण आत्मस्वरूप मलिन नहीं है; आत्मस्वरूप तो शुद्ध एकरूप है। क्षणिक विकार होता है, वह भाव सम्पूर्ण शुद्धस्वरूप

www.vitragvani.com

को मलिन करने में समर्थ नहीं है। विकार जितना ही आत्मा मानना, वह अज्ञान है और विकार से भिन्न शुद्ध आत्मस्वरूप को जानना, वह सम्यग्ज्ञान है।

मीठे जल से भरे हुए समुद्र की लहरों में जो मलिनता दिखती है, उतना ही कहीं सम्पूर्ण समुद्र नहीं है। मूलस्वरूप से समुद्र को देखो तो वह समुद्र और उसका पानी एकरूप निर्मल है; लहरों की मलिनता तो बाहर की उपाधि है; उसी प्रकार यह आत्मा सहज चैतन्यरूप आनन्द-समुद्र है। उसमें वर्तमान जो विकारभावरूप मलिन तरंग दिखायी देती है, वह उसके मूलस्वरूप में नहीं है। यदि अकेले आत्मा को मूलस्वरूप से देखो तो उसके द्रव्य में, गुण में और वर्तमान वर्तते भाव में भी विकार नहीं है। आत्मा का मूलस्वरूप शुद्ध है, वह उपादेय है।

जैसे समुद्र का ऐसा स्वभाव है कि मल को अपने में नहीं रहने दे परन्तु उछालकर बाहर फेंक दे; उसी प्रकार आत्मस्वरूप में विकारभावों का प्रवेश नहीं हो सकता। आत्मा, अन्तर्तत्त्व है और विकार, बहिर्तत्त्व है। अन्तर्तत्त्व में बहिर्तत्त्व का प्रवेश नहीं है। आत्मा का स्वभाव, विकार का नाश करने का है। — ऐसा आत्मस्वभाव ही अमृतरूप है, उसकी पहचान के अतिरिक्त दूसरे जितने भाव करे, वे सब जहररूप संसारस्वरूप है।

पुण्य-पाप परिणाम में या उनके फल को भोगने में आनन्द मानना, वह मूढ़ता है। पुण्य-परिणाम करके यह मानना कि मैंने बहुत अच्छे भाव किये, वह अग्नि की ज्वाला भोगने जैसा है। जिस प्रकार कोई पागल मनुष्य, अग्नि से जगमगाते कोयले को

www.vitragvani.com

हाथ में लेकर ऐसा माने कि मैं अग्नि का मजा लेता हूँ और मुझे बहुत आनन्द आता है परन्तु अग्नि से स्वयं का हाथ जल जाता है, इसका भान नहीं है; इसी प्रकार पुण्य-परिणाम के वेदन से तो आकुलतारूपी अग्नि में आत्मा जल रहा है परन्तु अज्ञानी उसमें शान्ति मानता है।

आत्मा अपने स्वभाव से भरपूर है परन्तु अज्ञानी जीव, स्वभाव की महिमा नहीं समझता, इसलिए स्वभाव की शरण नहीं लेता; उसकी दृष्टि निमित्त पर है, इसलिए निमित्तों की उपस्थिति में उसे स्वयं की शरण लगती है। बाहर के पदार्थों से तो स्वयं खाली है और अन्तर में शुद्ध आनन्दघनस्वभाव से भरपूर है, वह उपादेय और शरणभूत है परन्तु उसके भान बिना, बाहर की क्षणिक वस्तुओं से स्वयं को भरपूर मानता है, स्वयं को मालरहित मानता है परन्तु बाहर के पदार्थों में से कभी जीव की शान्ति नहीं आ सकती है। कोई पुण्यपरिणाम करके उससे अपने को भरपूर मानता है, क्षणिक परिणाम में ही अर्पित होकर उसमें ही आत्मा का सर्वस्व मान बैठा है परन्तु क्षणिक पुण्य-परिणाम से रहित सम्पूर्ण वस्तु ज्ञानकन्द है, उसे नहीं जानता है।

जीव का श्रद्धागुण ऐसा है कि जहाँ उसकी दृष्टि पड़े, वहाँ वह स्वयं को पूर्ण मानता है। स्वयं का मूलस्वभाव पूरा है, इसकी श्रद्धा छोड़कर अज्ञानी ने विकार और पर में अपनापना माना है; इसलिए विकार और पर से ही अपने को भरपूर / पूर्ण मानता है परन्तु उनसे पृथक् स्वरूप है, उसे नहीं मानता। जहाँ-जहाँ दृष्टि दे, वहाँ-वहाँ भरपूर और पूर्ण ही मानता है, अधूरा नहीं मानता। अन्दर में अपना

www.vitragvani.com

स्वभाव पूरा है, उससे विपरीत पड़कर बाहर में भी अपनी पूर्णता मानता है। स्वयं पूरा है परन्तु दृष्टि में गुलाँट मारी है, इसलिए बाहर में पूर्णता मान बैठा है। बाहर में पूर्णता माननेवाला स्वयं ही पूरा है परन्तु जहाँ पूर्णता है, वहाँ न मानकर; जहाँ नहीं, वहाँ अपनापन माना है। श्री आचार्यदेव कहते हैं कि तेरा शुद्धस्वभाव ही उपादेय है, उसकी ही तू मान्यता कर; इसके अतिरिक्त दूसरा कोई तुझे ग्रहण करनेयोग्य नहीं है। पर्याय में रागादि होने पर भी वे ग्रहण करनेयोग्य नहीं हैं – ऐसी श्रद्धा करना, वह धर्म है। रागादि में आत्मा नहीं है, तथापि वहाँ मिथ्याकल्पना करके अपनापन मान रहा है, वह असत् मान्यता ही अधर्म है और जो अपना स्वभाव सत् है, उसे ही मान्यता में स्वीकार करना, वह सत् की मान्यता है और धर्म है।

अज्ञानी जीव — पैसा, बँगला, स्त्री इत्यादि को शरणभूत मानता है परन्तु जब बिच्छू डंक मारता है, वहाँ चिल्लाता है; उस समय पैसा, बँगला और स्त्री इत्यादि वस्तुएँ वह की वही होने पर भी क्यों शरणभूत नहीं होती ? पहले उनमें सुख मानता था न ? कहाँ गयी तेरी सुख की कल्पना ? इसलिए हे अज्ञानी ! तू समझ कि वे कोई भी बाहर के पदार्थ तुझे शरणभूत नहीं हैं तथा जो सुख की कल्पना की थी, वह कल्पना भी शरणभूत नहीं है और जिसके फल में ये संयोग मिले हैं, वह पुण्य भी तुझे शरणभूत नहीं है; ये सब तुझसे बाह्यतत्त्व हैं और तेरा एकरूप चैतन्यस्वभाव अन्तःतत्त्व है और वही शरणभूत है। उस स्वभाव की पहचान आचार्यदेव कराते हैं।

यह आत्मा अपने स्वभाव से पूरा है। वर्तमान पर्याय में जो

www.vitragvani.com

अपूर्णता दिखती है, उतना वह नहीं है। पर्याय का लक्ष्य छोड़कर द्रव्यस्वभाव के लक्ष्य से जो एकरूप स्वभाव ज्ञात होता है, वही आत्मतत्त्व है और वही उपादेय है। जब तक उसका अनुभव न हो, तब तक उसके लक्ष्य से बारम्बार उसका श्रवण, मनन करना चाहिए और उसकी महिमा का बारम्बार चिन्तवन करना चाहिए। अनादि से पर्याय जितना मानकर स्वयं उसकी महिमा में अटका है और विकार का ही अनुभव किया है, उसके बदले स्वभाव की महिमा करे तो विकाररहित शुद्धभाव का अनुभव होता है और विकार की महिमा छूट जाती है; सुखी होने का मार्ग यही है।

आत्मा एकरूप द्रव्य है। उसकी पर्याय में सात तत्त्वों के विकल्परूपी लहरें उठें, वह आत्मा नहीं है तथा नौ पदार्थ के राग मिश्रित विचार आवें, वह भी आत्मा नहीं है। 'मैं जीव हूँ' – ऐसे विकल्प में अटकना, वह अज्ञानबुद्धि है, क्योंकि 'मैं जीव हूँ अजीव नहीं' – ऐसे विकल्प, वे आत्मा नहीं हैं; विकल्प तो मलिन तरंग है, शुभराग है। उसे आत्मा मानना तो एक मलिन तरंग को ही सम्पूर्ण समुद्र मान लेने जैसा है। उस विकल्प को गौण करने पर जो अकेला चैतन्यदल रह जाता है, वह आत्मस्वभाव है। चतुर मनुष्य एक मलिन तरंग को देखकर सम्पूर्ण समुद्र को मलिन नहीं मान लेता परन्तु वह जानता है कि सम्पूर्ण समुद्र स्वच्छ है, यह मलिन तरंग उसका स्वरूप नहीं है। समुद्र, इस मलिनता को उछालकर बाहर फैंक देगा। इसी प्रकार जीव-अजीव के जो विकल्प उठते हैं,वह मलिन तरंग के समान क्षणिक विकार है, सम्पूर्ण आत्मा, विकारवाला नहीं; आत्मा का स्वभाव, उस विकाररूप नहीं हो गया है – ऐसा ज्ञानी जानता है।

www.vitragvani.com

'मैं जीव हूँ और प्रयत्न द्वारा मेरी मोक्षदशा प्रगट करूँ' – ऐसा विकल्प उठता है, वह विकार है, ज्ञानी उसे स्वभाव में प्रवेश नहीं होने देते परन्तु भेदज्ञान के बल से उसे पृथक् का पृथक् ही रखते हैं; इसलिए चैतन्य-भावना के जोर से उस विकार को उछालकर बाहर फैंक देते हैं परन्तु अज्ञानी तो विकार और आत्मा को एकमेक ही जानता है; इसलिए वह विकार से कभी मुक्त नहीं होता।

पर्याय में कैसे भी मलिनभाव हों, वह एक समयमात्र ही है, और स्वभाव के बाहर ही रहते हैं; स्वभाव में प्रविष्ट नहीं होते। जिस प्रकार मनुष्य, लकड़ी के द्वारा मलिन तरंग को समुद्र में प्रविष्ट कराने का प्रयत्न करे परन्तु वह मलिनता, समुद्र में प्रविष्ट नहीं हो सकती क्योंकि समुद्र का स्वभाव ऐसा है कि वह मैल को अपने में प्रविष्ट नहीं होने देता; इसी प्रकार यह आत्मा परमपारिणामिकभाव-स्वरूप चैतन्य समुद्र है; विकारी अवस्था, मलिन तरंग के समान है, मलिन अवस्था एक समय मात्र की है; वह मलिनता, आत्मा के स्वभाव में सम्मिलित नहीं होती, आत्मा का स्वभाव कभी विकारी नहीं हो जाता; आत्मा का स्वभाव विकार से पृथक् रहने का है। ज्ञानी जानते हैं कि शुभराग के समस्त विकल्प मेरे स्वभाव की चीज नहीं है परन्तु अन्तर में जो सदा एकरूप ज्ञायकभाव है, वही मैं हूँ और वही मुझे आदरणीय है। उसकी श्रद्धा करके, उसमें ही एकाग्र होने योग्य है। इस प्रकार अपने अन्तरस्वभाव की प्रतीति द्वारा उसमें ही आदरबुद्धि हो, इसका नाम शुद्धभाव का ग्रहण है, और यही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है, यही नियमसार है। जिसमें ऐसे शुद्धात्मा का ग्रहण किया है, वह सम्यग्दृष्टि है और उसे बन्धन नहीं होता क्योंकि वह जीव, बन्ध और आत्मा के स्वरूप को

www.vitragvani.com

भिन्न-भिन्न जानकर, बन्ध को छोड़ता है और आत्मस्वभाव को ही ग्रहण करता है। यह बात समयसार के मोक्ष अधिकार में है। अभी ऐसा सम्यग्दर्शन किस प्रकार हो ? - यह बात चलती है।

आत्मा किसी पर का कर्ता या हर्ता नहीं है तथा आत्मा का कर्ता-हर्ता कोई नहीं है। आत्मा स्वयं पर के अवलम्बनरहित है। पर की अपेक्षा बिना अपने सहज ज्ञानस्वभाव की दृष्टि ही सम्यग्दर्शन है। विकल्प द्वारा आत्मा का ग्रहण नहीं होता, विकल्प आत्मा की चीज नहीं है; विकल्परहित आत्मस्वभाव है, वही ग्रहण करनेयोग्य है। आत्मा का जो स्वभाव है, उसे श्रद्धा में मानना, ज्ञान में जानना, और उसमें एकाग्र होना - इसका नाम शुद्धात्मा का ग्रहण है।

(श्री नियमसार, गाथा ३८ के प्रवचन में से)

सिद्धसमान सदा पद मेरो

श्री आचार्यदेव कहते हैं कि 'मैं प्रभु हूँ, पूर्ण हूँ' - ऐसा निर्णय करके तुम प्रभुत्व मानना। सर्वज्ञ भगवान और अनन्त ज्ञानी-आचार्यों ने समस्त आत्माओं को पूर्णरूप से देखा है। तू भी पूर्ण है, परमात्मा जैसा है। ज्ञानी, स्वभाव देखकर कहते हैं कि तू प्रभु है क्योंकि भूल और अशुद्धता तेरा स्वरूप नहीं है। अवस्था में क्षणिक भूल है, उसे हम गौण करते हैं। हम भूल को नहीं देखते क्योंकि हम भूलरहित आत्मस्वभाव को मुख्यरूप से देखनेवाले हैं और ऐसे पूर्णस्वभाव को स्वीकार करके, उसमें स्थिरता द्वारा अनन्त जीव परमात्मदशारूप हुए हैं; इसलिए तुझसे हो सके, ऐसा ही कहा जाता है.... 'मैं सिद्धसमान प्रभु हूँ' - ऐसा विश्वास तुझे तुझसे न आवे, तब तक सर्वज्ञ परमात्मा द्वारा कथित बातें तेरे हृदय में नहीं बैठेगी।

(पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी)

www.vitragvani.com

जिन्हें भवरहित होना हो वे
अनुभव का अभ्यास करो

श्री मुनिराज, निस्पृह करुणाबुद्धि से कहते हैं कि अरे प्राणियों! आत्मा का शुद्धस्वभाव समझे बिना अनन्त काल में दूसरे सब भाव किये हैं, वे कोई भाव उपादेय नहीं हैं; आत्मा का निश्चयस्वभाव ही उपादेय है — ऐसी तुम श्रद्धा करो।

इस दुर्लभ मनुष्यभव में भी यदि जीव अपने स्वभाव को जानकर, उसका आदर नहीं करे तो फिर से कब ऐसा अवसर मिलनेवाला है? अपना जैसा पूर्णस्वभाव है, वैसा पहचानकर उसका ही आदर करना - श्रद्धा करना, यही इस मनुष्यपने में जीव का कर्तव्य है।

जिन्हें अल्प काल में भवरहित होना है — ऐसे निकट भव्यजीव इस शुद्ध आत्मा का आदर करो, इसकी पहचान करो, इसके अनुभव का अभ्यास करो।

समुद्र मन्थन में से प्राप्त रत्न

तदेवैकं परं रत्नं सर्वशास्त्रमहोदधेः।
रमणीयेषु सर्वेषु तदेकं पुरतः स्थितम्॥४३॥

वह एक चैतन्यस्वरूप आत्मा ही समस्त शास्त्ररूपी महासमुद्र का परम रत्न है (अर्थात् उस चैतन्यरत्न की प्राप्ति के लिए ही समस्त शास्त्रों का अध्ययन किया जाता है।) सर्व रमणीय पदार्थों में वह चैतन्यस्वरूप आत्मा ही एक रमणीय तथा उत्कृष्ट है।

(पद्मनन्दिपंचविंशति)

www.vitragvani.com

रे भव्य! तू तत्त्व का कौतुहली होकर

आत्मा का अनुभव कर!

भेदज्ञान की प्रेरणा के लिए यह श्लोक है —

अयि! कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली सन्
अनुभवभवमूर्तेः पार्श्ववर्ती मुहूर्तम्।
पृथगथ विलसंतं स्वं समालोक्य येन
त्यजसि झटिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहम्॥

(समयसार कलश-२३)

श्री आचार्यदेव, कोमल सम्बोधनपूर्वक कहते हैं कि हे भाई! तू किसी भी प्रकार महाकष्ट से अथवा मरकर भी तत्त्व का कौतूहली हो और शरीर आदि मूर्त द्रव्यों का एक मुहूर्त, अर्थात् दो घड़ी पड़ोसी होकर आत्मा का अनुभव कर कि जिससे अपने आत्मा को सर्व परद्रव्यों से भिन्न देखकर, इस शरीर आदिक मूर्तिक पुद्गलद्रव्य के साथ एकपने के मोह को तू शीघ्र ही छोड़ देगा।

मिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्व का नाश कैसे हो? और विपरीत मान्यता तथा विपरीत पाप अनादि के कैसे मिटें? उसका उपाय बताते हैं।

देखो, आचार्यदेव कड़क सम्बोधन करके नहीं कहते, किन्तु कोमल सम्बोधन करके कहते हैं कि हे भाई! क्या यह तुझे शोभा देता है? कोमल सम्बोधन करके जगाते हैं कि अरे जीव! तू किसी भी प्रकार महाकष्ट से अथवा मरण करके भी, अर्थात् मरण जितने कष्ट आयें तो भी वह सब सहन करके तत्त्व का कौतूहली हो।

जैसे, कुएँ में मशीन डालकर उसकी थाह लाते हैं; उसी प्रकार ज्ञान से भरपूर चैतन्य कुएँ में पुरुषार्थरूपी गहरी मशीन डालकर

www.vitragvani.com

उसकी थाह ला, विस्मयता ला! दुनिया की दरकार छोड़! दुनिया एक बार पागल कहेगी, भूत भी कहेगी! दुनिया की अनेक प्रकार की प्रतिकूलता आवे तो भी उन्हें सहन करके, उनकी उपेक्षा करके, चैतन्य भगवान कैसा है? उसे एक बार देखने का कौतूहल तो कर! यदि दुनिया की अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता में रुकेगा तो अपने चैतन्य भगवान को तू नहीं देख सकेगा; इसलिए दुनिया का लक्ष्य छोड़कर, उससे अकेला हो जा। एक बार महान् कष्ट से भी तत्त्व का कौतूहली हो जा।

जैसे, सूत और वेत का मेल नहीं खा सकता; उसी प्रकार जिसे आत्मा की पहचान करनी है, उसका और जगत् को मेल नहीं खा सकता। सम्यग्दृष्टिरूप सूत और मिथ्यादृष्टिरूप वेत का मेल नहीं खाता। आचार्यदेव कहते हैं कि हे बन्धु! तू चौरासी के कुएँ में पड़ा है, उसमें से पार होने के लिए कितने ही परीषह अथवा उपसर्ग आयें, मरण जितना कष्ट आयें तो भी उनकी दरकार छोड़कर, पुण्य-पापरूप विकारभाव का दो घड़ी पड़ोसी हो जा, तो चैतन्यदल तुझे पृथक् ज्ञात होगा। 'शरीरादि तथा शुभाशुभभाव - यह सब मुझसे भिन्न हैं और मैं इनसे भिन्न हूँ, पड़ोसी हूँ', इस प्रकार एक बार पड़ोसी होकर आत्मा का अनुभव कर।

सच्ची समझ करके समीपवर्ती पदार्थों से मैं पृथक् जानने -देखनेवाला हूँ। शरीर, वाणी, मन - यह सब बाहर के नाटक हैं, उन्हें नाटकस्वरूप देख! तू उनका साक्षी है। स्वाभाविक अन्तर-ज्योति से ज्ञान की भूमिका की सत्ता में यह सब जो ज्ञात होता है, वह मैं नहीं हूँ परन्तु उनका जाननेवालामात्र मैं हूँ। इस प्रकार स्व-

www.vitragvani.com

तत्त्व को जान तो सही, और उसे जानकर लीन तो हो! आत्मा में श्रद्धा, ज्ञान और लीनता प्रगट होती है, उसका आश्चर्य लाकर एक बार परद्रव्यों का पड़ोसी हो जा।

जिस प्रकार मुसलमान का और बनिये का घर समीप-समीप हों तो बनिया उसका पड़ोसी होकर रहता है परन्तु वह मुसलमान के घर को अपना नहीं मानता; इसी प्रकार तू चैतन्यस्वभाव में स्थिर होकर परपदार्थों का दो घड़ी पड़ोसी हो जा! आत्मा का अनुभव कर!

शरीर-मन-वाणी की क्रिया तथा पुण्य-पाप के परिणाम, वह सब तो पर हैं। विपरीत पुरुषार्थ द्वारा पर का स्वामित्वपना माना है, विकारीभाव की तरफ तेरा बहिर्लक्ष्य है, वह सब छोड़कर स्वभाव में श्रद्धा, ज्ञान और लीनता करके, एक अन्तर्मुहूर्त, अर्थात् दो घड़ी पृथक् होकर चैतन्यमूर्ति को भिन्न देख! उस आनन्द को अन्दर में देखने से तू शरीरादि के प्रति मोह को शीघ्र छोड़ देगा। ***'झटिति'*** अर्थात् शीघ्र छोड़ देगा। भाई! यह बात सरल है क्योंकि तेरे स्वभाव की बात है। केवलज्ञान लक्ष्मी को स्वरूप सत्ता भूमि में ठहरकर देख, तो तू पर के साथ के मोह को शीघ्र छोड़ देगा।

तीन काल-तीन लोक की प्रतिकूलता के ढेर एक साथ सामने आकर खड़े रहें तो भी मात्र ज्ञातारूप से रहकर वह सब सहन करने की शक्ति आत्मा के ज्ञायकस्वभाव की एक समय की पर्याय में विद्यमान है। शरीर आदि से भिन्नपने आत्मा को जाननेवाले को परीषह के ढेर जरा भी असर नहीं कर सकते, अर्थात् उनमें चैतन्य अपने व्यापार से जरा भी नहीं डिगता।

कोई कोमल शरीरवाले जीवित राजकुमार को एकदम जमशेदपुर

www.vitragvani.com

की अग्नि की भट्टी में डाल दे और उसे जो दु:ख होता है, उसकी अपेक्षा अनन्तगुणा दु:ख पहले नरक में है और पहले नरक से अधिक दूसरे में, तीसरे आदि सातों नरकों में क्रमश: बढ़ता हुआ अनन्तगुणा दु:ख होता है। ऐसे अनन्त दु:ख की प्रतिकूलता की वेदना में पड़ा हुआ, महा कठोर पाप करके वहाँ गया हुआ, तीव्र वेदना के समूह में पड़ा होने पर भी किसी जीव को ऐसा विचार आता है कि अरे रे! ऐसी वेदना! ऐसी पीड़ा! ऐसा विचार करके स्वसन्मुखता होने से सम्यग्दर्शन हो जाता है। वहाँ सत्समागम नहीं होने पर भी पूर्व में एक बार सत्समागम किया था, सत् का श्रवण किया था और वर्तमान में सम्यक्विचार के बल से सातवें नरक की महापीड़ा में पड़ा होने पर भी पीड़ा का लक्ष्य विस्मृत होकर सम्यग्दर्शन होता है, आत्मा का वेदन होता है।

सातवें नरक में रहे हुए सम्यग्दर्शन प्राप्त जीव को नरक की पीड़ा असर नहीं कर सकती, क्योंकि उसे भान है कि मेरे ज्ञानस्वरूप चैतन्य को कोई परपदार्थ असर नहीं कर सकता। ऐसी अनन्त वेदना में पड़ा हुआ भी आत्मा का अनुभव प्राप्त किया है तो सातवें नरक जितनी पीड़ा तो यहाँ नहीं है न! मनुष्यपना प्राप्त करके रोना क्या रोया करता है? अब सत्समागम से आत्मा की पहचान करके आत्मानुभव कर। आत्मानुभव का ऐसा माहात्म्य है कि परीषह आने पर भी डिगे नहीं और दो घड़ी, स्वरूप में लीन हो तो केवलज्ञान प्रगट करता है, जीवन्मुक्त दशा होती है और सिद्धदशा होती है तो फिर मिथ्यात्व का अभाव करके सम्यग्दर्शन प्राप्त करना तो सुलभ ही है। ●

(पूज्य बेनश्री बेन द्वारा लिखित समयसार प्रवचन, भाग-३ में से)

www.vitragvani.com

भेदविज्ञान की महिमा

एकमात्र भेदविज्ञान के अतिरिक्त जीव अनन्त काल में सब कर चुका है परन्तु भेदज्ञान एक सेकेण्डमात्र भी प्रगट नहीं किया, एक सेकेण्डमात्र का भेदविज्ञान, अनन्त जन्म-मरण का नाश करनेवाला है। जैसे पर्वत पर बिजली गिरे और उसके सैकड़ों टुकड़े हो जायें, वे फिर से रेण देने से जुड़ते नहीं हैं; इसी प्रकार एक बार भी जीव यदि भेदविज्ञान प्रगट करे तो उसकी मुक्ति हो और उसे फिर से अवतार नहीं रहे; इसलिए यह भेदविज्ञान निरन्तर भाने योग्य है।

भेदविज्ञान प्रगट करने की तैयारीवाले जीव को देशनालब्धि अवश्य होती है। सत्समागम के बिना मात्र शास्त्र के अभ्यास से वह देशनालब्धि नहीं हो सकती है। किसी आत्मानुभवी धर्मात्मा से धर्मदेशना का सीधा श्रवण किये बिना कोई भी जीव शास्त्र पढ़कर भेदविज्ञान प्रगट नहीं कर सकता; इसलिए जिस आत्मार्थी को अति महिमावन्त भेदविज्ञान प्रगट करके इन संसार दु:खों से परिमुक्त होना हो, उसे सत्समागम में उपदेश का श्रवण करके तत्त्व का निर्णय करना चाहिए। भेदविज्ञान ही इस जगत में सारभूत है। भेदविज्ञान बिना जो कुछ है, वह सब असार है; इसलिए आत्मार्थी जीवों को प्रतिपल इस भेदविज्ञान की भावना करना योग्य है।

(भेदविज्ञानसार में से)

www.vitragvani.com

विरले जीव ही आत्मा को जानते हैं

हे जीवों! भावमरण से बचने के लिये आत्मा को पहचानो

''संसारी जीवनां भावमरणो टालवा करुणा करी,
सरिता वहावी सुधा तणी प्रभु वीर! ते संजीवनी।''

(समयसार स्तुति)

अपने ज्ञान-आनन्दमय जीव को भूलकर, अज्ञान के कारण अनादि काल से जीव, संसार-परिभ्रमण कर रहा है और प्रतिक्षण भावमरण से मर रहा है। उस भावमरण का अभाव करने के लिये यह बात है।

आत्मा स्वयं सुखस्वरूप है, आत्मा में शान्ति है; जिसे इस बात का पता नहीं है, वह बाहर में शान्ति मानता है परन्तु वहाँ शान्ति नहीं है। शरीर, पैसा, परिवार इत्यादि वस्तुओं में सुख नहीं है, वे तो परवस्तुएँ हैं। वे पड़ी रहती हैं और आत्मा कहीं चला जाता है, इसलिए उनमें सुख नहीं है किन्तु जीव, अज्ञान से उनमें सुख मानता है और शरीर इत्यादि में अपनापना मानता है - यही संसार है और इसी का दुःख है। उस दुःख के अभाव का उपाय बताते हुए ज्ञानी कहते हैं कि भाई! सुख तो आत्मा में है। यह बात समझने से ही शान्ति प्राप्त होती है परन्तु पहिले इसकी रुचि होना चाहिए कि अरे रे! मैं कौन हूँ? मेरा क्या स्वरूप है? अनन्त काल में महामूल्यवान् मनुष्यभव प्राप्त हुआ तो उसमें आत्मा का स्वरूप है? - यह जानने से दुःख का अभाव होगा। संसारी जीव के भावमरण का अभाव होने के लिये ज्ञानियों का करुणापूर्ण उपदेश है।

www.vitragvani.com

आत्मा में चैतन्य खजाना है। अन्दर में आनन्द और शान्ति है परन्तु जिस प्रकार कस्तूरी मृग अपनी नाभि में स्थित कस्तूरी को भूलकर बाह्य में सुगन्ध मानता है; इसी प्रकार अज्ञानी जीव, बाहर में सुख खोजता है। अन्दर में सुख है – ऐसे आत्मा का ज्ञान हो तो सद्बोधरूपी चन्द्रमा का उदय होता है और फिर जिस प्रकार दूज में से पूर्णिमा होती है, उसी प्रकार उस सम्यग्ज्ञान में से केवलज्ञान होता है।

यह आत्मा, सुख का भण्डार है; इसमें से ही सुख प्रगट होता है। जिस प्रकार कच्चे चने को सेकने पर उसमें से मिठास प्रगट होती है, वह मिठास बाहर से प्रगट नहीं होती, अपितु चने में ही विद्यमान थी, वह प्रगट हुई है; इसी प्रकार सच्ची पहचान करने से आत्मा में सुख प्रगट होता है, वह बाहर से नहीं आता; अपितु अन्दर भरा है, उसी में से आता है। इस मनुष्यभव में आत्मा का सच्चा ज्ञान करना ही कर्तव्य है।

यदि मनुष्य अवतार प्राप्त करके भी आत्मा की पहिचान नहीं की तो इस अवतार की कोई विशेषता नहीं है। जिस प्रकार कच्चा चना कड़वा लगता है और उसे बो दिया जाए तो उगता है परन्तु उसे सेक दें तो मिठास आती है और वह फिर से उगता नहीं है; इसी प्रकार आत्मा, अज्ञानभाव से दु:खी है और नये-नये भव धारण कर रहा है परन्तु आत्मा की सच्ची पहचान करने से उसे सुख प्रगट होता है और फिर से भव धारण नहीं करना पड़ता।

यह आत्मा, आबाल-गोपाल सबको ख्याल में आ सके — ऐसा है। आत्मा, मोक्षसुख का देनेवाला है – ऐसे आत्मा को अनुभव

www.vitragvani.com

से जाना जा सकता है किन्तु महान् विद्वान् भी वाणी से उसका सम्पूर्ण वर्णन नहीं कर सकते। वह ज्ञान में आता है किन्तु वाणी में नहीं आता। जिस प्रकार घी खाने पर उसके स्वाद का ज्ञान होता है परन्तु वाणी में वह सम्पूर्ण नहीं कहा जा सकता; इसी प्रकार आत्मा का स्वरूप ज्ञान में ज्ञात होता है परन्तु वाणी में नहीं कहा जा सकता। जब आत्मा को जाननेवाला ज्ञानी भी उसे वाणी से सम्पूर्णरूप से कहने में समर्थ नहीं है, तब अज्ञानी तो उसे कह ही कैसे सकता है ?

यह मनुष्य देह, दुर्लभ है और इसमें भी आत्मा का भान करना तो महादुर्लभ है। बहुत से जीव, मनुष्यपना प्राप्त करके भी आत्मा को नहीं जानते और तीव्र लोलुपता से कौए-कीड़े-मकोड़े जैसा जीवन व्यतीत करते हैं। यहाँ कहते हैं कि हे भाई! मनुष्यपना पाकर तू अपने आत्मा को जान! आत्मस्वभाव ऐसा है कि ज्ञान से अनुभव किया जा सकता है परन्तु वाणी में नहीं आ सकता।

श्रीमद् राजचन्द्र कहते हैं कि :

जो पद झलके श्री जिनवर के ज्ञान में,
कह न सके पर वह भी श्री भगवान जब।
उस स्वरूप को अन्य वचन से क्या कहूँ,
अनुभवगोचर मात्र रहा वह ज्ञान जब॥

ऐसे आत्मा का भान अभी विदेहक्षेत्र में आठ-आठ वर्ष के राजकुमार भी करते हैं। मैं ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ - ऐसा अनुभव आठ वर्ष के बालक भी कर सकते हैं। चैतन्य की महिमा का विस्तार इतना अधिक है कि वाणी से पार नहीं पड़ता, परन्तु ज्ञान के अनुभव से ही पार पड़ता है। घी का वर्णन लिखकर चाहे जितनी

www.vitragvani.com

पुस्तकें भर दें अथवा चाहे जितना कथन करे, परन्तु उससे सामनेवाले जीव को घी का स्वाद नहीं आ सकता; इसी प्रकार चैतन्य का कितना भी कथन किया जाए, किन्तु अनुभव के बिना उसका पता नहीं पड़ता, अर्थात् साक्षात्कार नहीं होता।

भाई! आत्मा को जाने बिना जन्म-मरण का अन्त नहीं आ सकता। आत्मा, जानने-देखनेवाला पदार्थ है; महिमावन्त भगवान है; वाणी, जड़-अचेतन है, उससे आत्मा ज्ञात नहीं होता। तब आत्मा को जानने का उपाय क्या? यही कि स्वानुभव द्वारा वह ज्ञात होता है। लाखों-करोड़ों प्राणियों में कोई विरला प्राणी ही अन्तर में अनुभव करके आत्मा को जानता है। पुण्य से आत्मस्वरूप की पहचान नहीं होती, क्योंकि वह तो आत्मस्वरूप से बहिर्भाव है। आत्मतत्त्व, अन्तर्मुख स्वानुभव से ही ज्ञात होता है। करोड़ों जीवों में कोई विरले जीव ही स्वानुभव से जिस आत्मा को जानते हैं, वह आत्मस्वभाव इस जगत् में जयवन्त वर्तो — ऐसा कहकर, यहाँ माङ्गलिक किया है।

अन्तर में आत्मस्वरूप तो प्रत्येक को है परन्तु स्वानुभव द्वारा करोड़ों जीवों में कोई विरले जीव ही उसे जानते हैं। यद्यपि वह अन्तर में है तो, तथापि बाहर में भ्रमते हैं।

एक शिष्य को ज्ञान चाहिए था। उसने किसी के समीप जाकर कहा कि मुझे ज्ञान दो, तब उसने कहा कि अमुख सरोवर की मछली के पास जाकर कहना, वह तुझे बतायेगी। वह मनुष्य, मछली के पास गया और कहने लगा — 'हे मछली! मुझे ज्ञान चाहिए।' तब मछली ने कहा — 'भाई! मुझे बहुत जोरदार प्यास लगी है; इसलिए पहले मुझे पानी पिलाओ, फिर मैं तुम्हें ज्ञान

www.vitragvani.com

बताऊँगी।' तब उस मनुष्य ने आश्चर्य से कहा — 'अरे! तू इस मधुर जल के सरोवर में पड़ी है, तेरे पास पानी भरा है, फिर भी तुम मुझसे पानी माँग रही हो?' उत्तर में मछली ने कहा — 'भाई! तेरा ज्ञान तो तेरे अन्तर में पूरा-पूरा है, उसमें से ज्ञान निकाल, बाह्य में से ज्ञान नहीं आता।' देखो, अपने में ज्ञान भरा है, उसे तो जीव जानता नहीं और बाहर में ज्ञान खोजता है, तो कैसे प्राप्त होगा? अन्तरस्वभाव में ज्ञान भरा है, उसे पहचानने से सम्यग्ज्ञानरूपी चन्द्रमा का उदय होकर आत्मा की मुक्ति होती है।

वास्तविक जिज्ञासु को गृहस्थाश्रम में भी आत्मा का भान होता है। राज-पाट, स्त्री-पुत्रादि होने पर भी आत्मा को समझ सकता है और कल्याण होता है। आत्मा को समझे बिना, वह स्त्री-पुत्रादि अथवा घर-बार को छोड़कर जङ्गल में रहे तो भी उसका कल्याण नहीं होता।

आत्मस्वभाव महिमावन्त है, वह मोक्षसुख का प्रदाता है; वह स्वानुभव से ज्ञात होता है किन्तु वाणी के विस्तार से ज्ञात नहीं होता। ऐसे आत्मस्वभाव को जाननेवाले लाखों-करोड़ों जीवों में कोई विरले ही होते हैं। ऐसा आत्मा जयवन्त वर्तता है और आत्मा को जाननेवाले भी सदा होते हैं। यद्यपि आत्मा को जाननेवाले विरले ही होते हैं परन्तु उनका विरह कभी नहीं होता। पूर्व काल में आत्मा को जाननेवाले थे, वर्तमान में हैं और भविष्य में भी होंगे।

ऐसे आत्मा को जानने से मुक्ति प्रगट होती है और संसार में परिभ्रमणरूप जन्म-मरण का अभाव होता है। इसलिए आत्मा को जानना ही मनुष्यभव का कर्तव्य है। ●

www.vitragvani.com

हे जीव!

शरीर से भिन्न चैतन्य की शरण कर

आचार्यदेव कहते हैं कि हे भाई! तू समझ रे समझ! अन्तर में देख! तेरा स्वभाव शरीर से और उस ओर की इच्छा से भिन्न है; इसलिए उनका आश्रय छोड़ और तेरे स्थायी चैतन्यस्वभाव का आश्रय कर, उसकी शरण ले।

जिस शरीर को तू तेरा मान रहा है, उस शरीर में भी तेरा अधिकार नहीं चलता तो फिर जो पदार्थ प्रत्यक्षरूप से दूर है, उनमें तेरा कैसे चलेगा? तू पर का कुछ नहीं कर सकता; परपदार्थ तुझसे भिन्न हैं; इसलिए उन पदार्थों के आश्रय से जो मोहादि भाव होते हैं, वे भी तेरे स्वरूप से भिन्न हैं। इन सबसे पृथक् तेरे चैतन्यतत्त्व को पहचानकर उसकी शरण ले तो तुझे धर्म और शान्ति प्रगट होगी।

वर्तमान अपूर्णदशा में राग होता होने पर भी, हे भाई! तू तेरे ज्ञान में ऐसा निर्णय और श्रद्धा तो कर कि राग और अपूर्णता, मैं नहीं हूँ; मैं तो उस राग और अपूर्णता से रहित पूर्ण ज्ञानस्वभावरूप हूँ। यदि तू ऐसा निर्णय करेगा तो तुझे अन्तर में अवसर रहेगा – राग और शरीर से पृथक्पने का भान जागृत रहेगा। जीवन में भी शरीर से पृथक् चैतन्य का भान किया होगा तो शरीर से छूटने के प्रसंग में, अर्थात् मृत्यु के समय शरीर में मूर्च्छित नहीं होगा और शरीर से भिन्न चैतन्य की जागृति रहेगी तथा आत्मा के आनन्दपूर्वक समाधि होगी।

अहो! मैं चैतन्य भगवान हूँ, शरीर से भिन्न हूँ – ऐसा जिसने भान किया है, उसे शरीर से छूटने का (जन्म-मरणरहित होने का) मौका / अवसर आयेगा। जो शरीर में ही एकता मान बैठा है, वह

www.vitragvani.com

तो शरीर में ही मूर्च्छित हो जायेगा और बारम्बार नये शरीर धारण करके अनन्त जन्म-मरण में परिभ्रमण करेगा। मेरे चैतन्यतत्त्व को शरीर का सम्बन्ध ही नहीं है — ऐसी श्रद्धा करनेवाला जीव अल्प काल में अशरीरी सिद्ध होगा। चैतन्य जाति को शरीर से और विकार से भिन्न जानकर, तीन काल के सर्व पदार्थों से मैं भिन्न हूँ — ऐसा जानकर, अपने ज्ञान को स्वभाव में एकाग्र करके, जो आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान अनुभव करता है, उसे अपूर्व धर्म होता है।

सर्वज्ञ का धर्म सुसर्ण जानि
आराध्य ! आराध्य ! प्रभाव आणि
अनाथ एकान्त सनाथ होगा
इसके बिना कोई न....

एक बार तो ज्ञान समुद्र में डुबकी मार!

पुण्य-पाप, वह परसमय है, अनात्मा है; उनका ही अस्तित्व जिसे भासित होता है और उनसे भिन्न चैतन्य का अस्तित्व भासित नहीं होता, वह मिथ्यादृष्टि है। पुण्य-पाप के समय ही चैतन्यस्वभाव में दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता जिसे भासित होती है, वह सम्यग्दृष्टि है। सम्यग्दर्शन के प्रभाव से पर्याय-पर्याय में स्वभाव में एकता ही होती जाती है; इसलिए आचार्य भगवान कहते हैं कि हे भाई ! एक बार तू ऐसा तो मान कि ज्ञानस्वरूप ही मैं हूँ, रागादि मुझमें है ही नहीं। पर्याय में रागादि हों, वह मेरे स्वरूप में नहीं है और मेरा ज्ञान उस राग में एकमेक नहीं हो जाता। इस प्रकार राग और ज्ञान की भिन्नता जानकर एक बार तो राग से पृथक् पड़कर आत्मा के ज्ञान का अनुभव कर। तेरे ज्ञान समुद्र में एक बार तो डुबकी मार।

(पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी)

www.vitragvani.com

वंदित्तु सव्वसिद्धे.....

सिद्ध भगवन्तों को नमस्कार करने की विधि और उसका फल

श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने **वंदित्तु सव्वसिद्धे....** ऐसा कहकर जब सिद्ध भगवन्तों को नमस्कार किया, तब सिद्धों की जो संख्या थी, उसकी अपेक्षा अभी लाखों सिद्धों की संख्या बढ़ गयी है... और वे सदा ही वृद्धिंगत ही रहेंगे। जैसे जगत में सिद्ध निरन्तर वृद्धिंगत ही है, उसी प्रकार आत्मा में सिद्धों की स्थापना करनेवाले साधक की परिणति भी निरन्तर वृद्धिंगत ही है.... उसकी परिणति में वृद्धि होते-होते वह भी सिद्धों की बस्ती में मिल जायेगा।

वंदित्तु सव्वसिद्धे.... ऐसा कहकर श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव, समयसार के शुरुआत में माङ्गलिकरूप से सर्व सिद्धभगवन्तों को नमस्कार करते हैं... जिन्हें पूर्ण ज्ञान और आनन्द खिल गया है और रागादि का अभाव हुआ है — ऐसे सर्व सिद्धभगवन्तों को नमस्कार हो!

सिद्ध को नमस्कार करनेवाला जीव कैसा होता है? नमस्कार करनेवाले को स्वयं को तो पूर्ण ज्ञान खिला नहीं और अपूर्ण ज्ञान है, क्योंकि पूर्ण ज्ञान खिल जाने के पश्चात् किसी को नमस्कार करना नहीं रहता। अपने को वर्तमान में अपूर्ण ज्ञान होने पर भी पूर्ण ज्ञानी को नमस्कार करते हैं तो वह किसके सन्मुख रहकर नमस्कार करेगा? अपूर्ण ज्ञान के सन्मुख रहकर पूर्ण ज्ञान का स्वीकार नहीं किया जा सकता। जहाँ पूर्ण ज्ञान प्रगट होने की ताकत भरी हो,

www.vitragvani.com

उसकी सन्मुखता करने से ही पूर्ण ज्ञान का स्वीकार हो सकता है। मैं अल्पज्ञ होने पर भी, सर्वज्ञ का आदर करता हूँ - उन्हें नमता हूँ- मेरे ज्ञान में उन्हें स्थापित करता हूँ, इस प्रकार नमस्कार करनेवाले को स्वयं को 'पूर्ण ज्ञान प्रगट होने का आधार कौन है' - इसकी दृष्टि हुए बिना वस्तुतः पूर्ण ज्ञान को नमस्कार नहीं हो सकता। इसलिए सर्वज्ञ को नमस्कार करने में वास्तव में तो अपने ज्ञानस्वभाव में ही नमना-झुकना आया है।

सिद्ध भगवान को नमस्कार करे, उसे यह जानना चाहिए कि उनका परिपूर्ण ज्ञान, इन्द्रियों के या पुण्य-पाप के आधार से नहीं खिला है परन्तु अन्तर के अनादि-अनन्त ज्ञानस्वभाव के आधार से ही वह ज्ञान खिला है; इसलिए मेरे ज्ञान का आधार भी मेरा ज्ञानस्वभाव ही है; कोई निमित्त या विकार मेरे ज्ञान का आधार नहीं है। यदि, शुभभाव के आधार से ज्ञान खिला — ऐसा माने तो पूर्ण होने के पश्चात् वह ज्ञान टिक नहीं सकेगा, क्योंकि वहाँ शुभराग का तो अभाव है। यदि राग या इन्द्रियों के आधार से ज्ञान होता हो, तब तो उनका अभाव होने पर सिद्ध को ज्ञान का भी अभाव हो जाये! इसलिए जो जीव, राग या इन्द्रियों के आधार से ज्ञान मानता है, वह पूर्ण ज्ञानी ऐसे सिद्ध भगवान को वास्तव में नमस्कार नहीं कर सकता, अर्थात् वह अपने स्वभाव की ओर नहीं ढल सकता। आत्मा की त्रिकाली ज्ञानशक्ति के आधार से ही केवलज्ञान प्रगट होता है — ऐसा समझकर, द्रव्यस्वभाव के सन्मुख होकर जो प्रतीति करता है, उसने ही अनन्त सिद्धभगवन्तों को वास्तविक वन्दन किया है।

इस गाथा में **वंदित्तु सव्वसिद्धे...** द्वारा कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने

www.vitragvani.com

सर्व सिद्धों को नमस्कार किया है, उसे आज लगभग २००० वर्ष व्यतीत हो गये हैं; उस दरमियान भी प्रत्येक छह महीने आठ समय में छह सौ आठ सिद्ध नये-नये हुआ ही करते हैं, अर्थात् श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने सिद्धों को वन्दन किया, तब सिद्धों की जो संख्या थी, उसकी अपेक्षा अभी उसमें लाखों सिद्धों की संख्या बढ़ गयी है। जगत् में सिद्ध निरन्तर वृद्धिंगत ही है; इसी प्रकार जिसने आत्मा में सिद्धों को स्थापित किया, उसकी परिणति भी निरन्तर वृद्धिंगत ही है। उन सिद्धभगवन्तों को पुण्य-पाप नहीं, तथापि सर्वज्ञपना टिक रहा है, तो वह सर्वज्ञपना वस्तुस्वभाव के आधार से ही प्रगट हुआ है और टिका है। ऐसे सिद्धभगवन्तों को वन्दन करनेवाला जीव, अपने पुण्य-पापरहित स्वभाव का आदर और विश्वास किये बिना सिद्धों को वास्तविक वन्दन नहीं कर सकता है।

'मैं सिद्धों को वन्दन करता हूँ', अर्थात् मेरी पर्याय में अल्पज्ञता और राग-द्वेष होने पर भी, उनका आदर न करके, मैं पूर्ण वस्तुस्वभाव के सन्मुख जाता हूँ... वस्तुस्वभाव में परिणमित होता हूँ - इसका नाम स्वभावदृष्टि / द्रव्यदृष्टि है और इसी का नाम सिद्ध को वन्दन है।

सर्वज्ञ भगवान को वर्तमान परसन्मुखता का कोई विकल्प न होने पर भी, सर्वज्ञता टिकी है तो वह सर्वज्ञता उन्हें स्वसन्मुखता से ही प्रगट हुई और टिकी है - ऐसा समझकर, जो स्वयं स्वभाव के सन्मुख हुआ, उसने सर्वज्ञ को भाव नमस्कार किया है। ऐसा नमस्कार, मोक्ष का कारण है। देखो, यह नमस्कार की महिमा!! पूर्व में जीव ने कभी ऐसा नमस्कार नहीं किया है।

www.vitragvani.com

एक बार वन्दे जो कोई
भव भ्रमण ताकौ नहीं होई

यहाँ कहा तद्नुसार समझकर, यदि एक बार भी भगवान को नमस्कार करे तो उसे अल्प काल में मुक्ति हुए बिना नहीं रहे और उसे फिर से चार गति में भ्रमण न हो।

जिसे एक बार भी आत्मा के स्वभाव की यह बात रुच जाये, तत्पश्चात् उसे, यदि आत्मा चैतन्य मिटकर जड़ हो जाये तो उसकी रुचि बदले! अर्थात् आत्मा का चैतन्यस्वभाव मिटकर कभी जड़ नहीं होता और उसकी रुचि नहीं बदलती। ध्रुवस्वभाव के आधार से हुई रुचि, स्वभाव के साथ शाश्वत् टिकी रहती है और अल्प काल में उसकी मुक्ति हो जाती है। ऐसी रुचि प्रगट करने के लिये स्वभाव के अतिरिक्त दूसरा कोई कारण है ही नहीं।

यहाँ, जिन्हें पूर्ण ज्ञान प्रगट हो गया है — ऐसे सिद्धों को नमस्कार किस प्रकार होता है? - यह बात चल रही है। पूर्ण केवलज्ञान पर्याय स्वयं को वर्तमान में नहीं वर्तती और जिन्हें वह दशा प्रगट वर्तती है, उन्हें अपने ज्ञान में स्वीकार करना है तो ज्ञान किसकी ओर झुककर वह स्वीकार करेगा? पर के सामने देखकर पूर्ण ज्ञान का यथार्थ स्वीकार नहीं आता। पूर्ण ज्ञान के आधाररूप जो गुणी, अर्थात् आत्मस्वभाव है, उसके सन्मुख हुए बिना उस पूर्ण ज्ञान को स्वीकार नहीं किया जा सकता। स्वभाव के सन्मुख होकर अतीन्द्रियज्ञान का अंश अपने में प्रगट करे, तब ही पूर्ण अतीन्द्रिय केवलज्ञान का स्वीकार होता है और तभी सिद्ध भगवान को सच्चा नमस्कार किया कहलाता है। इसलिए सिद्ध को नमस्कार

www.vitragvani.com

करनेवाला जीव, स्वभावसन्मुख साधक हो गया, और अल्प काल में वह सिद्ध होगा। इस प्रकार साधकभाव की शुरुआत हो जाये — ऐसे माङ्गलिक से आचार्य भगवान ने इस समयसार की शुरुआत की है, वह आज फिर से नौवीं बार प्रवचन में पढ़ा जा रहा है।

(श्री समयसार गाथा १ पर पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन में से)

काम एक आत्मार्थ का....
.....दूजा नहीं मनरोग

समयसार का श्रवण करनेवाला पात्र शिष्य कैसा होता है ? श्री आचार्यदेव ने आत्मस्वभाव का जो एकत्वस्वरूप समयसार में समझाया है, उसे सद्गुरुगम से श्रवण करने का उसे अपूर्व उत्साह है... जोश है... रुचि है। अनन्त-पूर्व काल में नहीं सुना था — ऐसे अपूर्व भाव से वह आत्मा के एकत्वस्वभाव का श्रवण... परिचय... मन्थन करता है; इसलिए चौथी गाथा में कहा है कि 'एकत्वस्वभाव की बात जीवों ने कभी सुनी नहीं...' ऐसे प्रकार में से अब वह बाहर निकल गया है... और अब तो 'दर्शाऊँ तो करना प्रमाण' इस कथन के अनुसार वह अपने स्वानुभव से प्रमाण करने के लिये तैयार हुआ है। उसने ज्ञानी की उपासनापूर्वक एकत्वस्वभाव का 'श्रवण' किया है... उसकी रुचि से हाँ पाड़कर बारम्बार 'परिचय' किया है... और छठवीं गाथा में दर्शाये गये 'भगवान ज्ञायकस्वभाव' का 'अनुभव' प्रगट करने के लिये वह कटिबद्ध हुआ है।

ऐसा सुपात्र जीव, समयसार का श्रोता है और वह अल्प काल में ही शुद्धात्मा को प्राप्त करता है। अहो! सन्तों की कृपा से जो दुर्लभ, वह उसे सुलभ हुआ है। *(श्री समयसार, गाथा-४,५,६ के प्रवचनों से)*

www.vitragvani.com

आत्मा को प्रसन्न करने की धगश

अज्ञानी जीवों की बाह्यदृष्टि होने से वे ऐसा मानते हैं कि मैं पर का आश्रय लूँ तो धर्म हो... परन्तु ज्ञानी कहते हैं कि भाई! उन सबका आश्रय छोड़कर तू अन्तर में तेरे आत्मा की श्रद्धा कर; आत्मा को प्रगट करने का आधार अन्तर में है। आत्मा की पवित्रता और आत्मा का आनन्द, आत्मा में से ही प्रगट होता है; बाहर से किसी काल भी प्रगट नहीं होता।

जीवों को यह बात कठिन पड़ती है; इसलिए मानो दूसरा रास्ता लेने से धर्म हो जायेगा! ऐसी उन्हें विपरीत शल्य बैठी है परन्तु भाई! अनन्त वर्षों तक तू बाहर में देखा कर तो भी आत्मधर्म प्रगट नहीं होगा; इसलिए पर का आश्रय छोड़कर स्वतत्त्व की रुचि करना - प्रेम करना... मनन करना... वही सत्स्वभाव को प्रगट करने का उपाय है। इसलिए जो अपना हित चाहे, वह ऐसा करो - ऐसा आचार्यदेव कहते हैं।

जिसे अपना हित करना हो, उसे ऐसी गरज होगी। जिसे गरज नहीं है, उसकी तो बात ही नहीं है, क्योंकि जगत् के जीवों ने दुनिया प्रसन्न कैसे हो और दुनिया को रुचिकर कैसे हो? - ऐसा तो अनन्त बार किया है परन्तु मैं आत्मा वास्तविकरूप से प्रसन्न होऊँ और मेरे आत्मा को वास्तव में रुचिकर क्या है? - इसका कभी विचार भी नहीं किया, इसकी कभी दरकार भी नहीं की।

जिसे आत्मा को वास्तव में प्रसन्न करने की धगश जगी, वह आत्मा को प्रसन्न करके ही रहेगा और उसे प्रसन्न, अर्थात् आनन्दधाम में पहुँचाकर ही रहेगा।

www.vitragvani.com

यहाँ जगत के जीवों को प्रसन्न करने की बात नहीं है परन्तु जो अपना हित चाहता हो, उसे क्या करना – उसकी बात है। स्वयं का स्वभाव ज्ञान-आनन्द से भरपूर है, उसकी श्रद्धा करे तो उसमें से कल्याण हो; इसके अतिरिक्त अन्य से कल्याण तीन काल-तीन लोक में होता ही नहीं। *(श्री समयसार, बन्ध अधिकार के प्रवचनों से)*

अहो, रत्नत्रय महिमा!

(त्रिभुवन पूज्य सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय ही सिद्धान्त का सर्वस्व है और वही तीनों काल में मोक्षगामी जीवों को मुक्ति का कारण है, यह बात ज्ञानार्णव में श्री शुभचन्द्राचार्य कहते हैं।)

एतत्समयसर्वस्वं मुक्तेश्चेतन्निबन्धनम्।
हितमेतद्धि जीवानामेतदेवाग्रिमं पदं॥२२॥

यह रत्नत्रय ही सिद्धान्त का सर्वस्व है, तथा यही मुक्ति का कारण है और जीवों का हित यही है तथा प्रधान पद यही है।

ये याता यान्ति यास्यन्ति यमिनः पदमव्ययम्।
समाराध्यैव ते नूनं रत्नत्रयमखण्डितम्॥२३॥

जो संयमी मुनि पूर्व में मोक्ष गये हैं, वर्तमान में जाते हैं और भविष्य में जायेंगे, वे वास्तव में इस अखण्डित रत्नत्रय को सम्यक् प्रकार से आराधन करके ही गये हैं, जाते हैं और जायेंगे।

साक्षादिदमनासाद्य जन्मकोटिशतैरपि।
दृश्यते न हि केनापि मुक्तिश्रीमुखपंकजम्॥२४॥

इस सम्यक् रत्नत्रय को प्राप्त किये बिना करोड़ों-अरबों जन्म धारण करने पर भी, कोई जीव मोक्षलक्ष्मी के मुख-कमल को साक्षात् देख नहीं सकता।

www.vitragvani.com

श्रावकों तथा श्रमणों का कर्तव्य

(परम भागवत श्री नियमसार के परमभक्ति अधिकार की १३४ वीं गाथा पर पूज्य गुरुदेवश्री का प्रवचन, वीर संवत् २४७८, माघ शुक्ल ४)

मुनिराजों तथा श्रावकों को सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र के प्रति कैसी भक्ति होती है तथा वे रत्नत्रय की आराधना किस प्रकार करें? - उसका सुन्दर भाववाही विवेचन इस प्रवचन में है।

श्री नियमसार का भक्ति अधिकार पढ़ा जा रहा है। भगवान आत्मा का भजन करना, उसका नाम भक्ति है। अन्तर में अखण्ड चिदानन्दी भगवान आत्मा का भजन करना, अर्थात् सम्यग्दर्शन -ज्ञान-चारित्र प्रगट करना, वही सच्ची भक्ति है और वहाँ बाहर के भगवान की भक्ति का शुभराग, वह व्यवहार भक्ति है।

देखो! इस अधिकार में मुनि तथा श्रावकों दोनों की बात ली है। कोई ऐसा समझे कि मुनियों का धर्म दूसरा होगा और श्रावकों का धर्म दूसरा होगा - तो ऐसा नहीं है। मुनि हो या श्रावक हो, जितनी शुद्ध रत्नत्रय की आराधना, उतना धर्म है। श्रावक को भी राग से धर्म नहीं होता। जितना स्वभाव का आश्रयभाव, उतनी रत्नत्रय की भक्ति है और वही धर्म है। यहाँ आचार्यदेव ऐसी भक्ति का बहुत सरस वर्णन करते हैं —

सम्यक्त्व-ज्ञान-चारित्र की श्रावक श्रमण भक्ति करे।
उसको कहें निर्वाण-भक्ति परम जिनवर देव रे॥१३४॥

जो श्रावक अथवा श्रमण, सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की भक्ति करते हैं, उन्हें निर्वाण की भक्ति है - ऐसा जिनेन्द्र भगवन्तों ने कहा है।

www.vitragvani.com

स्वभाव के आश्रय से रत्नत्रय का भाव, वही भक्ति है; राग वास्तव में भक्ति नहीं है। श्रावक को भी स्वयं को त्रिकाली चैतन्य भगवान के आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की भक्ति होती है; ऐसी रत्नत्रय की भक्ति ही मोक्ष के कारणरूप भक्ति है। पर की भक्ति करने से शुभराग होता है और स्वभाव की भक्ति करने से मुक्ति होती है। स्वभाव की निर्विकल्प श्रद्धा-ज्ञान करके उसमें लीन होने का नाम स्वभाव की भक्ति है और वही रत्नत्रय की आराधना है।

भक्ति, अर्थात् भजन करना; धर्मी जीव किसका भजन करे? धर्मी श्रावक और श्रमण अपने आश्रय से शुद्ध रत्नत्रय का भजन करते हैं, वे ही वास्तविक भक्त हैं।

चतुर्गति संसार में परिभ्रमण के कारणभूत जो तीव्र मिथ्यात्व कर्म की प्रकृति, उससे प्रतिपक्ष निज परमात्मतत्त्व के सम्यक् श्रद्धान-अवबोध-आचरणस्वरूप शुद्ध रत्नत्रय परिणामों का भजन, वह भक्ति है। यहाँ शुद्ध रत्नत्रय बतलाना है; इसलिए अपने परमात्मतत्त्व की श्रद्धा-ज्ञान-रमणता की ही बात ली है; देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा इत्यादि में तो शुभराग है, इसलिए उसकी बात नहीं ली है।

जो जीव, चैतन्यमूर्ति परमात्मा की भक्ति नहीं करता, उसकी श्रद्धा-ज्ञान-रमणता नहीं करता, वही मिथ्यात्वप्रकृति में जुड़ता हुआ चार गति में परिभ्रमण करता है। यहाँ तो चारों गति में परिभ्रमण का मूलकारण मिथ्यात्व को ही गिना है। सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् एक-दो भव हों, उनकी कोई गिनती नहीं है।

स्वभाव को भूलकर, मिथ्यात्व में जुड़ना, चार गति में भ्रमण का मूल है और उस मिथ्यात्वकर्म से विरुद्ध ऐसा आत्मा का

www.vitragvani.com

परमानन्द स्वभाव है, चार गति के मूल को उखाड़ देनेवाला है; ऐसे निज परमात्मतत्त्व के सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान-आचरण, वह शुद्धरत्नत्रय है — ऐसे शुद्धरत्नत्रय का भजन-आराधन, वह भक्ति है।

यहाँ व्यवहाररत्नत्रय के भजन की बात नहीं ली है, क्योंकि व्यवहाररत्नत्रय में शुभराग है, वह वास्तव में मोक्ष का कारण नहीं है। अन्तर में निज परमात्मतत्त्व के श्रद्धा-ज्ञान-आचरणरूप निश्चयरत्नत्रय की आराधना-भक्ति, वही मोक्ष का कारण है।

भक्ति, अर्थात् आराधना; शुद्धरत्नत्रय की भक्ति, अर्थात् शुद्धरत्नत्रय की आराधना। मुनिवर, शुद्धरत्नत्रय को आराधते हैं और श्रावकों को भी रत्नत्रय की अमुक आराधना होती है। निश्चय श्रद्धा-ज्ञान और आंशिक वीतरागी चारित्र उसे भी होता है। स्वभाव के ध्यान द्वारा जो निर्मल पर्याय परिणमित हुई, उसका नाम रत्नत्रय की आराधना और भक्ति है - ऐसी भक्ति से मुक्ति होती है।

☆ ☆ ☆

सच्चा श्रावक किसे कहते हैं और वह श्रावक किसकी भक्ति करता है? यह बात चलती है। चैतन्यमूर्ति निज परमात्मतत्त्व, देहादिक से भिन्न है, एक समय में परिपूर्ण ज्ञान शान्ति का पिण्ड है — ऐसे अन्तर्तत्त्व की निर्विकल्प श्रद्धा करना, वह सम्यग्दर्शन है और वह श्रावकों का पहला लक्षण है तथा निज परमात्मतत्त्व का ज्ञान, वह सम्यग्ज्ञान है तथा उसमें लीनता, वह सम्यक्चारित्र है — ऐसे शुद्धरत्नत्रय परिणामों का भजन, वह भक्ति है। ऐसी भक्ति, श्रावकों तथा श्रमणों को होती है, यह रत्नत्रय का भजन, अर्थात् वीतरागीपरिणति ही सच्ची भक्ति है।

www.vitragvani.com

अपने से भिन्न बाहर के भगवान की शुभरागरूप भक्ति तो व्यवहार है परन्तु यदि अन्दर शुद्धरत्नत्रयरूप निश्चय भक्ति होवे तो उस शुभराग को व्यवहार भक्ति कही जाती है। निज परमात्मा की निश्चयभक्ति हो, वहाँ पर परमात्मा की भक्ति को व्यवहार कहा जाता है परन्तु अपने को भूलकर अकेले पर की भक्ति में ही धर्म मानता है, उसे तो वह व्यवहार भी नहीं कहा जाता। शुद्धरत्नत्रय की भक्ति करना, अर्थात् उसकी आराधना करना, वह मोक्ष का मार्ग है। चैतन्यस्वभाव के श्रद्धा-ज्ञान-रमणतारूप परिणति ही आराधना और भक्ति है।

श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ हैं, उनमें छह प्रतिमा तक के श्रावक जघन्य हैं, सात से नौ प्रतिमावाले मध्यम हैं, और दसवीं-ग्यारहवीं प्रतिमावाले उत्तम हैं — परन्तु यह सब श्रावक क्या करते हैं? ये सब श्रावक, सम्यग्दर्शनपूर्वक शुद्धरत्नत्रय की आराधना करते हैं; ग्यारह प्रतिमाओं में शुद्धरत्नत्रय की भक्ति है। इसके अतिरिक्त राग की आराधना करे, अर्थात् राग से धर्म हो — ऐसा माने, उसे श्रावकपना होता ही नहीं।

जड़ की क्रिया जड़ से होती है, उसका कर्ता अपने को माननेवाला तो मिथ्यादृष्टि है तथा पूजा-भक्ति, शुद्ध आहार इत्यादि के शुभराग को धर्म मान ले तो वह भी मिथ्यादृष्टि है। शुद्ध आहार तथा व्रतादि के शुभराग को व्यवहार कहा जाता है — परन्तु कब? जबकि अन्तर में शुद्धरत्नत्रय की आराधना प्रगट हुई हो तब; जिसे स्वभाव के आश्रय से शुद्धरत्नत्रय की आराधना प्रगट नहीं हुई, उसे तो निश्चय प्रतिमा इत्यादि नहीं है; इसलिए उसे व्यवहार भी नहीं होता है। अहो! एक ही अबाधित मार्ग है कि जितना अन्तर

www.vitragvani.com

स्वभाव का अवलम्बन, उतना धर्म; बहिर्मुख झुकाव से जो भाव हो, वह धर्म नहीं है।

जो ग्यारह प्रतिमावाले श्रावक हैं, वे सब अन्तर्मुख स्वभाव के अवलम्बन से शुद्धरत्नत्रय की भक्ति करते हैं; उन्हें चिदानन्द ज्ञायकस्वभाव का श्रद्धा-ज्ञान करके, उसका अवलम्बन लेने पर पर्याय-पर्याय में वीतरागभाव की वृद्धि होती जाती है, उसका नाम प्रतिमा है। द्रव्यस्वभाव के आश्रय से ही रत्नत्रय पर्याय होती है; राग या निमित्त के आश्रय से सम्यग्दर्शनादि नहीं होते - ऐसा जिसे भान भी नहीं और पराश्रयभाव से धर्म मानता है, वह तो अज्ञानी है, उसे प्रतिमा कैसी ? त्रिकाली चिदानन्द द्रव्य के आश्रय से निर्मल रत्नत्रय पर्याय प्रगट हुई, उसका नाम भगवान का भजन है।

धर्मी को, जिज्ञासु को सच्चे देव-गुरु-शास्त्र के प्रति भक्ति का उल्लास आये बिना नहीं रहता परन्तु वह समझता है कि देव-गुरु -शास्त्र इत्यादि पर की भक्ति का भाव, वह शुभराग है और अपना आत्मा ही परमात्मा है, उसे पहचानकर, रत्नत्रय द्वारा उसकी भक्ति-आराधना-उपासना करना, धर्म है। देव-शास्त्र-गुरु भी ऐसा ही कहते हैं कि तू हमारे प्रति लक्ष्य छोड़कर तेरी आत्मा का भजन कर, तेरा आत्मा ही पूर्ण शक्तिमान परमात्मा है, उसे पहचानकर, उसका भजन कर। जो जीव इस प्रकार करता है, वही अपने आत्मा का वास्तविक भक्त है और वही व्यवहार से देव-गुरु का सच्चा भक्त है।

परिणति को अन्तरोन्मुख करके भगवान आत्मा के आनन्द में लीनता करना, वह भगवान की भक्ति है। बीच में शुभराग हो परन्तु

www.vitragvani.com

यदि उस शुभराग को आराधना माने तो वह जैन नहीं है; जो जीव स्वभाव के भान द्वारा रागादि को जीतता है, वह जैन है। जिसने राग को ही धर्म माना, वह राग को कैसे जीत सकेगा? मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, राग मेरा स्वरूप नहीं है — ऐसा भान करे तो उसके आश्रय से राग को जीत सकेगा। 'राग को जीतना, यह भी नास्ति से कथन है।' वस्तुतः कोई राग होता है और उसे जीतता है — ऐसा नहीं परन्तु अन्तर में ज्ञानस्वभाव की दृष्टि करके, उसमें स्थिरता करने पर रागादि की उत्पत्ति ही नहीं होती, वहाँ 'राग को जीता' ऐसा कहा जाता है। जिसे शुद्ध आत्मा का भान नहीं, उसे उसका भजन नहीं और उसे प्रतिमा इत्यादि नहीं होते।

अभी जिसे उपादान-निमित्त की भिन्नता का भी भान नहीं, और निमित्त के कारण से कार्य होता है, कर्म के कारण से विकार होता है — ऐसा मानता है, उसे तो दो द्रव्यों की एकता की तीव्र मिथ्याबुद्धि है। पहले स्व-पर की भिन्नता का भान करके, चिदानन्द परमात्मतत्त्व की श्रद्धा करना, सम्यग्दर्शन है। इस सम्यग्दर्शनरूपी धर्मक्रिया का कर्ता, आत्मा ही है। क्योंकि —

करता परिणामी दरव करमरूप परिणाम।
किरिया परजय की फिरनी, वस्तु एक त्रय नाम॥

- नाटक समयसार, पृष्ठ ८२

— अर्थात् जो द्रव्य परिणमित होता है, वही कर्ता है और जो परिणाम होता है, वही कर्म है तथा पर्याय का पलटना, वह क्रिया है। यह कर्ता, कर्म और क्रिया तीनों एक ही वस्तु है। आत्मा की सम्यग्दर्शनरूप क्रिया का कर्ता आत्मा ही है; आत्मा से भिन्न कोई

www.vitragvani.com

वस्तु सम्यग्दर्शन इत्यादि का साधन नहीं है। आत्मा की क्रिया को कोई पर नहीं करता और पर की क्रिया को आत्मा नहीं करता। आत्मा स्वयं स्वद्रव्य के आश्रय से परिणमते हुए सम्यग्दर्शनादि कार्य का कर्ता होता है। पहले ज्ञानी के समागम से ऐसी वस्तु की पहचान-विचार-प्रतीति करना, वह सम्यग्दर्शन के लिये पात्रता है। तत्पश्चात् श्रावकपना और प्रतिमा होती है।

प्रतिमाधारी श्रावकों को भी भूमिकानुसार शुद्ध आत्मा के रत्नत्रय की उपासना होती है और वही मोक्षमार्ग है। मोक्ष की भक्ति किसे होती है? जो श्रावक तथा श्रमण, शुद्धरत्नत्रय को भजते हैं, उन्हें ही मोक्ष की भक्ति है; शुद्धरत्नत्रय को जो आराधते हैं, वे ही मोक्ष के आराधक हैं। (स्व) द्रव्य के आश्रय से वीतरागी आचरण हो, उसका नाम भक्ति है। जिसे ऐसी भक्ति है, वही श्रमण या श्रावक है। जिस जीव को ऐसा भान नहीं और अकेला शुभरागरूप व्यवहार को ही निश्चय से मोक्षमार्ग मान लेता है, वह तो उपदेश के श्रवण का भी पात्र नहीं है।

श्री पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहते हैं कि —

अबुधस्य बोधनार्थं मुनीश्वरा देशयन्त्यभूतार्थम्।
व्यवहारमेव केलवमवैति यस्तस्य देशना नास्ति॥
माणवक एव सिंहो यथा भवत्यनवगीतसिंहस्य।
व्यवहार एव हि तथा निश्चयतां यात्यनश्चियज्ञस्य।

अज्ञानी को समझाने के लिये असत्यार्थ ऐसे व्यवहारनय से मुनिराज उपदेश करते हैं परन्तु जो केवल व्यवहार को ही जानता है, उसे तो उपदेश देना ही योग्य नहीं है। शास्त्र में व्यवहारनय का

www.vitragvani.com

कथन आवे वहाँ उसे ही पकड़ बैठे परन्तु उसका आशय क्या है, वह न समझे — ऐसे जीव, देशना के योग्य नहीं हैं। जैसे कोई सच्चे सिंह को न जानता हो, उसे कोई बिलाव बताकर कहते हैं कि देख! सिंह ऐसा होता है। उस बिलाव को ही सिंह मान बैठे; उसी प्रकार जो निश्चय को नहीं जानता — ऐसा अज्ञानी तो व्यवहार को ही निश्चयरूप मान लेता है। मोक्षमार्ग के साथ राग वर्तता हो, उसका ज्ञान कराने के लिये राग को व्यवहारमोक्षमार्ग कहा, वहाँ उस राग को ही वास्तविक मोक्षमार्ग मान ले तो वह जीव, देशना के लिये अपात्र है, अर्थात् वह जीव यथार्थ वस्तुस्वरूप समझ नहीं सकेगा। अभी सम्यक्त्व और श्रावकपना या मुनिपना तो कहीं दूर रहा!

चैतन्यद्रव्य में डूबने से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होते हैं — ऐसा निर्णय करके, द्रव्य के आश्रय से जितने गुण प्रगट हों, तद्नुसार प्रतिमा इत्यादि होते हैं। श्रावकपना और प्रतिमा तथा मुनिपना — यह सब अखण्डद्रव्य के आश्रय से ही प्रगट होते हैं। सभी श्रावक, शुद्धरत्नत्रय की भक्ति करते हैं। रत्नत्रय और रत्नत्रय की भक्ति दो अलग-अलग चीज नहीं है; द्रव्य के आश्रय से जितना रत्नत्रय प्रगट हुआ, उतनी रत्नत्रय की भक्ति है। चैतन्य के आश्रय से रत्नत्रय के गुण-अनुसार श्रावक के ग्यारह पद होते हैं और विशेष उग्ररूप से चैतन्य का आश्रय करने पर मुनिदशा तथा केवलज्ञान प्रगट होता है। धर्म की शुरुआत से पूर्णता तक एकमात्र चैतन्यस्वरूप के अतिरिक्त अन्य किसी का आश्रय नहीं है।

जो व्यवहारनय के आश्रय से लाभ मानता है, वह तो अनादिरूढ, व्यवहार में मूढ़ और निश्चय में अनारूढ़ है। निश्चयरहित अकेला व्यवहार तो अनादि से करता आया है, इसलिए अज्ञानी का व्यवहार

www.vitragvani.com

तो अनादिरूढ़ है। अज्ञानी और अभव्य भी अनादि काल से शुभराग तो करता ही आया है, उसे 'प्रथम व्यवहार' किस प्रकार कहना? वह तो वस्तुतः व्यवहार ही नहीं है। स्वभाव के आश्रय से निश्चय प्रगट करके राग का निषेध करे, तब उस निश्चयसहित के राग को व्यवहार कहते हैं। अन्तरस्वभाव का भान करके उसके आश्रय से वीतरागी निश्चयमोक्षमार्ग प्रगट किया, तब राग को उपचार से- व्यवहार से मोक्षमार्ग कहा जाता है परन्तु 'उपचार' का अर्थ ही 'वास्तव में वह मोक्षमार्ग नहीं' परन्तु बिलाव को सिंह कहने जैसा वह कथन है - ऐसा समझना चाहिए।

अज्ञानी, निश्चय के बिना अकेला व्यवहार मानते हैं, अर्थात् 'पहले व्यवहार और फिर निश्चय' — ऐसा मानते हैं, वह मिथ्या है; व्यवहार करते-करते निश्चय प्रगट हो जायेगा अथवा तो व्यवहार के आश्रय से लाभ होगा, यह मान्यता भी मिथ्या है; और जिसे ऐसी मान्यता है, उसे शुद्धरत्नत्रय की भक्ति अथवा प्रतिमा नहीं होती। द्रव्यस्वभाव के निश्चय श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक उसमें लीन होकर शुद्ध रत्नत्रय की आराधना करनेवाले श्रावक को परमार्थभक्ति है। जितनी चैतन्य में लीनता हो, उतनी भक्ति है। बीच में राग आवे, वह वस्तुतः भक्ति या धर्म नहीं है। श्रावक को भी शुद्धरत्नत्रय की जितनी आराधना है, उतनी परमार्थ भक्ति है।

इस प्रकार श्रावक की भक्ति की बात की है, कि ग्यारह भूमिकावाले श्रावक शुद्धरत्नत्रय का भजन करते हैं, वही भक्ति है।

अब मुनियों को कैसी भक्ति होती है, वह बात करते हैं। मुनिवरों को भी अन्तरस्वभाव के आश्रय से शुद्धरत्नत्रय की ही

www.vitragvani.com

भक्ति होती है। मुनियों की दशा महा अलौकिक है; श्रावक की अपेक्षा उन्हें रत्नत्रय की बहुत उग्र आराधना होती है, प्रतिक्षण विकल्प से छूटकर चैतन्यबिम्ब में जम जाते हैं, अभी केवलज्ञान लिया... या... लेंगे... ऐसी उनकी दशा है। अहो! सन्त-मुनि, आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्दकुण्ड में झूलते होते हैं, एकदम वीतरागता बढ़ गयी है और राग बहुत ही छूट गया है, वहाँ बाह्य में वस्त्रादि भी स्वयं छूट गये हैं और शरीर की सहज दिगम्बर निर्विकार दशा हो गयी है – ऐसे भवभयभीरु परम निष्कर्मपरिणतिवाले परम तपोधन भी शुद्धरत्नत्रय की भक्ति करते हैं।

किसी को ऐसा लगता हो कि श्रावक या मुनि बाह्य क्रियाकाण्ड में रुकते होंगे – तो कहते हैं कि नहीं; श्रावक तथा मुनि तो शुद्धरत्नत्रय की भक्ति करनेवाले हैं। इस भक्ति में राग नहीं परन्तु शुद्ध आत्मा में श्रद्धा-ज्ञान-रमणता करना ही भक्ति है। ऐसी वीतरागी भक्ति ही मुक्ति का कारण है।

मुनि हो या श्रावक हो परन्तु उन्होंने स्वभाव के आश्रय से जितनी रत्नत्रय की आराधना की, उतनी ही वीतरागी भक्ति है और वही मुक्ति का कारण है। मुनि क्या करते होंगे? चैतन्य परमात्मा में अन्दर उतरकर शुद्धरत्नत्रय की भक्ति करते हैं। पाँच परमेष्ठी पद में शामिल और भवभय से डरनेवाले, ऐसे वीतरागी मुनियों को स्वर्ग का भव करना पड़े, इसकी उन्हें भावना नहीं है; मैं तो चिदानन्द चैतन्यबिम्ब ज्ञायकमूर्ति हूँ; राग मेरा कार्य नहीं है – ऐसे भानसहित उसमें बहुत लीनता हुई है – ऐसी भावलिंगी सन्तों की दशा है। उसमें हठ नहीं परन्तु स्वभाव के आश्रय से वैसी सहज दशा हो

www.vitragvani.com

गयी है। वे परम नैष्कर्मवृत्तिवाले हैं, अर्थात् स्वरूप के आनन्द में इतने अधिक स्थिर हैं कि शुभ या अशुभकर्म से उदासीन हो गये हैं। राग से हटकर, परिणति अन्तर में झुक गयी है—ऐसे परमवीतरागी सन्त भी शुद्धरत्नत्रय की भक्ति करते हैं, उसे भगवान, मोक्ष की भक्ति कहते हैं।

श्री सीमन्धर भगवान अभी महाविदेह में समवसरण में बिराजमान हैं। वे तीर्थंकररूप से बिचरते हैं, उनकी देह पाँच सौ धनुष की है, उनके समवसरण में गणधर बिराजमान हैं; भगवान की दिव्यध्वनि झेलकर दो घड़ी में बारह अंग की रचना करे, ऐसी अपार उनकी सामर्थ्य है। तीर्थंकर भगवान, अर्थात् धर्म के राजा और गणधरदेव, अर्थात् धर्म के दीवान; ऐसे गणधरदेव भी जब नमस्कार मन्त्र बोलकर पंच परमेष्ठी को भाव से नमस्कार करते हैं, तब वीतरागी आनन्द में झूलते हुए समस्त मुनि उसमें आ जाते हैं।

अहो! गणधरदेव जिन्हें नमस्कार करें, उन सन्त की दशा कैसी! उन मुनिराज की महिमा कितनी!! मुनि भी परमेष्ठी हैं। ऐसे सन्त-मुनि अत्यन्त भवभीरु हैं और रागरहित नैष्कर्म्यपरिणतिवाले हैं। बाहर के किसी कार्य का बोझा सिर पर नहीं रखते। अन्तर के आनन्द के अनुभव में ही उनकी परिणति लीन है — ऐसे सन्त, शुद्धरत्नत्रय की भक्ति - आराधना करते हैं। अन्तर में शुद्धरत्नत्रय की आराधना होती है और बाह्य में निस्परिग्रही वीतरागी मुद्रा होती है — ऐसी मुनि की दशा है।

इस प्रकार श्रावक तथा श्रमण, दोनों शुद्धरत्नत्रय की भक्ति करते हैं। शुद्धरत्नत्रय की भक्ति में स्वभाव का ही आश्रय है; पर का

www.vitragvani.com

या राग का आश्रय नहीं। श्रावक को भी सम्यक् श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक आंशिक वीतरागी चारित्र प्रगट हुआ है, उतनी रत्नत्रय की भक्ति है। मुनि को पंच महाव्रत इत्यादि जो शुभराग है, वह तो आस्रव है, वह कहीं मुनिपद नहीं है; मुनिपद तो संवर-निर्जरारूप दशा है और वह दशा, चैतन्यस्वभाव के आश्रय से ही प्रगट होती है, उसे ही यहाँ आचार्यदेव ने निर्वाण की भक्ति कही है और ऐसी भक्ति से ही मुक्ति होती है।

अहो! नियमसार में तो सन्तों ने अमृत का समुद्र उछाला है! शुद्धरत्नत्रय की भक्ति करनेवाले उन परम श्रावकों को तथा परम तपोधनों को जिनवरों द्वारा कथित निर्वाणभक्ति, अर्थात् अपुनर्भवरूपी स्त्री की सेवा वर्तती है। अपुनर्भव, अर्थात् मोक्ष; उसकी आराधना उन्हें वर्तती है। ऐसा तत्त्व समझे बिना 'बाहर में छोड़ो-छोड़ो' ऐसा करे, उससे कहीं श्रावकपना या मुनिपना नहीं आ जाता।

आत्मा में अन्तर्मुख होकर जो शुद्धरत्नत्रय की आराधना करता है, उसे ही श्रावकपना और मुनिपना होता है तथा वही मोक्ष की वास्तविक क्रिया है। शरीर की क्रिया तो जड़ की है और राग की क्रिया, आस्रव है; आत्मस्वभाव के आश्रय से पर्याय पलटकर वीतरागी पर्याय प्रगट हो जाये, वह धर्म क्रिया है। श्रमण तथा श्रावक ऐसी क्रिया करते हैं; बीच में राग हो, उसे धर्म की क्रिया नहीं मानते तथा बाह्य में देहादि की क्रिया को वे अपनी नहीं मानते।

अभी महाविदेहक्षेत्र में सीमन्धर भगवान इत्यादि बीस तीर्थंकर विचरते हैं तथा केवली भगवन्तों के झुण्ड के झुण्ड वहाँ बिराजमान हैं, वहाँ तीर्थंकरों का केवली भगवन्तों का कभी विरह नहीं है;

www.vitragvani.com

आत्मा के असंख्य प्रदेश में उन्हें अनन्त चैतन्य दीपक प्रगट हो गये हैं ऐसे अनन्त-अनन्त जिनेश्वरों ने ऐसी शुद्धरत्नत्रय की भक्ति करनेवाले श्रमण और श्रावकों को निर्वाणभक्ति कही है। स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान स्थिरतारूप शुद्धरत्नत्रय की आराधना ही मुक्ति की भक्ति है; इसलिए उसके द्वारा ही मुक्ति होती है — ऐसा जिनदेव कहते हैं। ऐसे शुद्धरत्नत्रय की भक्ति करनेवाले श्रमण तथा श्रावक वास्तव में भक्त हैं।

अहो! चिदात्मा के भक्त उन श्रमण और श्रावकों की जय हो... उन्हें भक्ति से वन्दन हो!

उल्लास और विश्वास

जो जीव वास्तविक जिज्ञासु हो और अन्तर में आत्म-प्रतीत द्वारा सम्यग्दर्शन प्रगट करने के लिये उद्यमी हुआ हो, उस जीव को कैसा उल्लास और विश्वास होना चाहिए - यह बात एक बार पूज्य गुरुदेव ने निम्नलिखित भावभीने उद्गारों से अलौकिकरूप से समझायी थी।

मेरी परमात्मदशा मेरे आत्मा में से ही प्रगट होनेवाली है; मेरे आत्मा में ही मेरी परमात्म शक्ति भरी है, उसमें से मैं परमात्मदशा प्रगट करके अल्प काल में मोक्ष प्राप्त करनेवाला हूँ - इस प्रकार स्वयं को अपनी परमात्मशक्ति का विश्वास और आत्मवीर्य का उल्लास आना चाहिए।

जिसे ऐसा परमात्मशक्ति का विश्वास और आत्मवीर्य का उल्लास हो, उसे अन्तर में छुटकारे का मार्ग हुए बिना नहीं रहता।

www.vitragvani.com

सन्तों के अनुभव का सार

हे भव्य जीवों! इस परमात्मतत्त्व का आश्रय करके शुद्ध रत्नत्रय प्रगट करो। इतना न कर सको तो सम्यग्दर्शन तो अवश्य ही करो, वह दशा भी अभूतपूर्व और अलौकिक है।

शास्त्रकार आचार्य भगवन्तों ने और टीकाकार मुनिवरों ने परमागम के पृष्ठ-पृष्ठ पर जो अनुभव सिद्ध परम सत्य पुकारा है, उसका सार इस प्रकार है।

हे जगत की जीवो! तुम्हारे सुख का एकमात्र उपाय परमात्मतत्त्व का आश्रय है। सम्यग्दर्शन से लेकर सिद्धि तक की सर्व भूमिकाएँ उसमें समाहित है। परमात्मतत्त्व का जघन्य आश्रय, सम्यग्दर्शन है; वह आश्रय मध्यम कोटि की उग्रता धारण करने पर जीव को देशचारित्र, सकलचारित्र इत्यादि दशाएँ प्रगट होती हैं, और पूर्ण आश्रय होने पर केवलज्ञान और सिद्धत्व पाकर जीव सर्वथा कृतार्थ होता है। इस प्रकार परमात्मतत्त्व का आश्रय ही सम्यग्दर्शन है, वही सम्यग्ज्ञान है, वही सम्यक्चारित्र है, वही सत्यार्थ प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना, प्रयाश्चित्त, सामायिक, भक्ति, आवश्यक, समिति, गुप्ति, संयम, तप, संवर, निर्जरा, धर्म-शुक्लध्यान इत्यादि सब है। ऐसा एक भी मोक्ष का कारणरूप भाव नहीं है, जो परमात्मतत्त्व के आश्रय से अन्य हो। परमात्मतत्त्व के आश्रय से अन्य ऐसे भावों को (व्यवहार प्रतिक्रमण, व्यवहार प्रत्याख्यान इत्यादि शुभ -विकल्परूप भावों को) मोक्षमार्ग कहा जाता है, वह तो केवल उपचार से कहा जाता है।

www.vitragvani.com

परमात्मतत्त्व के मध्यम कोटि के अपरिपक्व आश्रय के समय उस अपरिपक्वता के कारण साथ-साथ जो अबुद्धिरूप अंश विद्यमान होता है, वह अबुद्धिरूप अंश ही व्यवहार प्रतिक्रमणादि अनेक-अनेक शुभ विकल्पात्मक भावोंरूप दिखायी देता है। वह अशुद्धि अंश, वास्तव में मोक्षमार्ग कैसे हो सकता है? वह तो वास्तव में मोक्षमार्ग से विरुद्ध भाव ही है, बन्धभाव ही है - ऐसा तुम समझो।

और, द्रव्यलिंगी मुनि को जो प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान इत्यादि शुभभाव होते हैं, वे भाव तो प्रत्येक जीव अनन्त बार कर चुका है परन्तु वे भाव उसे केवल परिभ्रमण का ही कारण हुए हैं, क्योंकि परमात्मतत्त्व के आश्रय के बिना आत्मा का स्वभाव-परिणमन आंशिक भी नहीं होता होने से उसे मोक्षमार्ग की प्राप्ति अंशमात्र भी नहीं होती।

सर्व जिनेन्द्रों की दिव्यध्वनि का संक्षेप और हमारे स्वसंवेदन का सार यह है कि भयंकर संसार रोग की एकमात्र औषध, परमात्मतत्त्व का आश्रय ही है। जहाँ तक जीव की दृष्टि ध्रुव अचल परमात्मतत्त्व पर न पड़कर क्षणिक भावों पर रहती है, वहाँ तक अनन्त उपायों से भी उसके कृतक औपाधिक उछाले / शुभाशुभ-विकल्प शमन नहीं होते परन्तु जहाँ उस दृष्टि को परमात्मतत्त्वरूप ध्रुव अवलम्बन हाथ लगता है, वहाँ उसी क्षण वह जीव (दृष्टि अपेक्षा से) कृतकृत्यता अनुभव करता है। (दृष्टि अपेक्षा से) विधि-निषेध विलय को प्राप्त होते हैं, अपूर्व समरस भाव का वेदन होता है, निजस्वभावरूप परिणमन का प्रारम्भ होता है और कृतक औपाधिक उछाला क्रम-क्रम से विराम को प्राप्त हो जाता है। इस

www.vitragvani.com

निरंजन निज परमात्मतत्त्व के आश्रयरूप मार्ग से ही सर्व मुमुक्षु भूतकाल में पंचम गति को प्राप्त हुए हैं, वर्तमान में प्राप्त करते हैं और भविष्यकाल में प्राप्त करेंगे।

यह परमात्मतत्त्व, सर्व तत्त्वों में सार है, त्रिकाल निरावरण नित्यानन्द एकस्वरूप है, स्वभाव अनन्त चतुष्टय से सनाथ है, सुखसागर का पूर है, क्लेशोदधि का किनारा है, चारित्र का मूल है, मुक्ति का कारण है। सर्व भूमिका के साधकों को यही एक उपादेय है।

हे भव्य जीवों! इस परमात्मतत्त्व का आश्रय करके तुम शुद्ध रत्नत्रय प्रगट करो। इतना न कर सको तो सम्यग्दर्शन तो अवश्य ही करो। यह दशा भी अभूतपूर्व और अलौकिक है।

(नियमसार के उपोद्घात में से)

कौन प्रशंसनीय है ?

इस जगत में जो आत्मा, निर्मल सम्यग्दर्शन में अपनी बुद्धि निश्चल रखता है, वह कदाचित पापकर्म के उदय से दुखित भी हो और अकेला भी हो तो भी वास्तव में प्रशंसनीय होता है और इससे उल्टा जो जीव अनन्त आनन्द को देनेवाले सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय से बाह्य है और मिथ्यामार्ग में स्थित है, ऐसे मिथ्यादृष्टि मनुष्य भले ही बहुत हों और वर्तमान में शुभकर्म के उदय से प्रसन्न हों तो भी वे प्रशंसनीय नहीं हैं; इसलिए भव्य जीवों को सम्यग्दर्शन धारण करने का निरन्तर प्रयत्न करना चाहिए।

(पद्मनन्दिपंचविंशति, देशव्रतोद्योतन, अधिकार-२)

www.vitragvani.com

भरतजी के साथ आध्यात्मिक तत्त्वचर्चा

भरतेश वैभव के एक प्रकरण पर पूज्य गुरुदेवश्री का प्रवचन

अभेदभक्ति ही मुक्ति का कारण है... और... भेदभक्ति, बन्ध का कारण है। यह बात भव्य सज्जन पुरुष उल्लास से स्वीकार करते हैं परन्तु जिसकी होनहार खराब है, ऐसा अभव्य जीव इसे स्वीकार नहीं करता।

श्री ऋषभदेव भगवान के पुत्र श्री भरत चक्रवर्ती एक बार उपवास करके बैठे हैं और रानियों के साथ तत्त्वचर्चा करते हैं। वहाँ रानी पूछती है कि हे स्वामी! संसार में दुःख है और अविनाशी सिद्धपद में सुख है, उस सुख का क्या उपाय है? यह प्रश्न पूछने में रानियों को इतना भान है कि आत्मा के अतिरिक्त शरीरादि में कहीं सुख नहीं है और ऐसा अविनाशी सुख प्राप्त करने की रुचि हुई है; इसलिए प्रेम से प्रश्न करती हैं। यहाँ पति-पत्नी का प्रेम नहीं परन्तु धर्मात्मा के रूप में प्रेम है।

भरतजी जवाब देते हैं कि आत्मा में से आवरण का नाश करने से वह सुख प्रगट होता है। आत्मा में राग-द्वेष-मोहरूप जो भाव-आवरण है, उसका नाश करने से सिद्ध-सुख प्रगट होता है।

रानी फिर से पूछती है कि स्वामी! उस आवरण के नाश करने का क्या उपाय है, वह भी हमें बताओ।

भरतजी जवाब देते हैं कि परमात्मा की भक्ति से आवरण का क्षय होता है। परमात्मा की भक्ति दो प्रकार की है - एक भेदभक्ति और दूसरी अभेदभक्ति। उसमें अभेदभक्ति, उस आवरण के नाश

www.vitragvani.com

का मूलकारण है। राग-द्वेषरहित परिपूर्ण ज्ञानस्वरूप परमात्मा का स्वरूप जानकर, उनकी भक्ति, बहुमान करना, वह भेदभक्ति है और अपने आत्मा को परिपूर्ण निर्मल परमात्मस्वरूप जानकर, उसकी श्रद्धा-ज्ञान करके, उसमें लीन होना, वह अभेदभक्ति है। अभेदभक्ति, वह निश्चयभक्ति है, वह परमार्थ भक्ति है, वह वास्तविक भक्ति है, वह अपने आत्मा की भक्ति है।

पहले तो भेदभक्ति होती है। परमात्मा के स्वरूप का विचार करना, वह भेदभक्ति है; ऐसी भेदभक्ति को जानकर, फिर 'ऐसा ही परमात्मा मैं हूँ, आत्मा में ही परमात्मा होने की सामर्थ्य है' - ऐसे अपने आत्मा को पहचानकर स्थिर हो, उसका नाम परमार्थभक्ति अथवा अभेदभक्ति है। अभेद आत्मा की ओर झुकाव के लक्ष्यपूर्वक भेदभक्ति होवे तो उसे व्यवहार कहा जाता है।

विकार और आवरण का नाश करने के लिए आत्मा में अभेद-भक्तिपूर्वक आराधना की आवश्यकता है। अभेदभक्ति से सिद्धपद प्राप्त होता है।

देखो, गृहस्थाश्रम में भी धर्मात्माओं के बीच ऐसी तत्त्वचर्चा चलती है। स्त्री है, तथापि तत्त्व की चर्चा करती है। 'मैं स्त्री हूँ; इसलिए मुझे समझ में नहीं आयेगा' - ऐसी मान्यता नहीं है। पत्नी अपने पति को ऐसे धर्म के प्रश्न पूछती है। मैं स्त्री नहीं परन्तु मैं तो आत्मा हूँ - ऐसा भान है।

फिर दूसरी रानी पूछती है कि स्वामी! परमात्मा की भेदभक्ति का तो हमें अभ्यास है परन्तु अन्तर में अभेदभक्ति में चित्त नहीं लगता! व्यवहार का अभ्यास है परन्तु अन्तर में आत्मा, ज्ञानदर्शन

www.vitragvani.com

का सागर है, उसकी श्रद्धा-ज्ञान में चित्त नहीं लगता, तो आत्मा की अभेदभक्ति कैसे हो ? उसका उपाय कहो।

भरतजी उसका उत्तर देते हैं — जैसे तुम वीतरागी चैतन्यमूर्ति भगवान के प्रतिबिम्ब को सन्मुख रखकर, उसकी भक्ति करती हो; उसी प्रकार आत्मा को भी तनुवातवलय में विराजमान सिद्ध-समान चिन्तवन करोगी तो अभेद आत्मा की भक्ति में चित्त लगेगा। वातवलय में जैसे सिद्ध प्रभु बिराजमान हैं, वैसा ही यह आत्मा अभी शरीर-प्रमाण बिराजमान है।

भरत और उनकी रानियों को राग है और गृहस्थपने में हैं परन्तु अन्तर में रटन तो यही है, इसलिए धर्मपूर्वक अध्यात्म की चर्चा करते हैं।

आत्मा की भक्ति से मुक्ति होती है; उस भक्ति का वर्णन चलता है। शरीर में रहा होने पर भी आत्मा, शरीरादि से भिन्न है - ऐसा समझे तो शरीरादि पर में एकत्वबुद्धि छूटकर आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान हो, वह अभेदभक्ति है। भेदभक्ति का वर्णन संक्षिप्त कर डाला और अभेदभक्ति का वर्णन विशेष करते हैं। भेदभक्ति को तो जगत जानता है परन्तु आत्मा की अभेदभक्ति को नहीं जानता। धर्म, आत्मा से करना है तो आत्मा कैसा है ? यह जाने बिना धर्म नहीं होता।

आत्मा ज्ञानमूर्ति सिद्ध जैसा है; शरीर से भिन्न है; अरूपी पुरुषाकार और चिन्मय है; चिन्मय अर्थात् ज्ञानमय है - ऐसे आत्मा को जानकर उसमें स्थिरता करना, वह अभेदभक्ति है।

जिनबिम्ब इत्यादि की भक्ति, वह भेदभक्ति है, उसमें शुभराग

www.vitragvani.com

है और आत्मा को उपरोक्तानुसार जाने तो अन्तर में अपने आत्मा का ही परमात्मारूप से दर्शन होता है। संसार में-गृहस्थपने में भी ऐसा आत्मदर्शन हो सकता है। इसका नाम अभेदभक्ति है।

भरत महाराजा चक्रवर्ती हैं, ऋषभदेव भगवान के पुत्र हैं, इसी भव से मोक्ष जानेवाले हैं, छह खण्ड के राज्य में रहे होने पर भी कभी-कभी अन्तर में आत्मा का अनुभव कर लेते हैं। वे भरतजी अभी अपनी रानियों को आत्मा के अनुभव का उपाय समझा रहे हैं।

आत्मा ज्ञानमय है। पर का कुछ करने का ज्ञान का स्वभाव नहीं है और राग-द्वेष करने का भी ज्ञान का स्वभाव नहीं है। ऐसे स्वभाव को पहचाने तो अन्तर में आत्मा का दर्शन हो। देखो! स्त्री को भी आत्मदर्शन होता है।

एक मूर्ख दरबार ऐसा था कि किसी ने उससे पूछा कि दरबार! तुम्हारे रानियाँ कितनी? दरबार ने कहा - कामदार को पूछो, मुझे पता नहीं। इसी प्रकार अज्ञानी मूर्ख जीव कहते हैं कि आत्मा का स्वरूप कैसा है - उसका अपने को पता नहीं, शास्त्र को पूछो। यहाँ कहते हैं कि आत्मा, रागरहित ज्ञानमय है - ऐसा जानकर अन्तर में देखे तो आत्मा का अनुभव हो और अपने अनुभव का अपने को पता पड़ता है। जिस प्रकार स्फटिक की शुद्ध प्रतिमा पर धूल होने पर भी वह दिखती है; उसी प्रकार चैतन्यमूर्ति आत्मा स्फटिकवत् निर्मल है, ऊपर कर्म की धूल होने पर भी वह दिखता है। आत्मा जाननेरूप स्वभाववाला चैतन्य की प्रतिमा है और कर्म तथा शरीर की धूल से वह पृथक् रहा हुआ है। ऐसा जानकर यदि अनुभव करे तो स्फटिक प्रतिमा की तरह शुद्ध आत्मा का अनुभव होता है।

www.vitragvani.com

आत्मा बाहर की क्रिया तो कर नहीं सकता परन्तु राग-द्वेष होते हैं, उन्हें करने का भी आत्मा का स्वभाव नहीं है। पुरुषाकार ज्ञानमूर्ति आत्मा है, उसे पहचाने तो आत्मा की अभेदभक्ति होती है।

स्फटिक की प्रतिमा के चारों ओर धूल होने पर भी, वह धूल, स्फटिक में घुस नहीं जाती; उसी प्रकार शरीर और कर्मरूपी धूल के मध्य ज्ञानमूर्ति आत्मा रहा होने पर भी, आत्मा में वे कोई प्रवेश नहीं कर गये हैं। जो ऐसे आत्मा को जानकर, अन्तर में उसे देखने का प्रयत्न करे तो वह दिखता है। स्फटिक की प्रतिमा तो आँख से दिखती है, हाथ से स्पर्शित होती है, इस प्रकार वह इन्द्रियों द्वारा ज्ञात होती है परन्तु आत्मा ज्ञानानन्दमूर्ति है, वह इन्द्रियों द्वारा दिखायी नहीं देता परन्तु अतीन्द्रियज्ञान-दर्शनरूपी चक्षु से वह ज्ञात होता है। शरीर और आत्मा को एक माने तो शरीर से भिन्न आत्मा दिखलायी नहीं देता और धर्म नहीं होता। देखनेवाला तो आत्मा है परन्तु यदि वह इन्द्रियों के द्वारा देखे तो बाहर के जड़-पदार्थ दिखते हैं, आत्मा ज्ञात नहीं होता। अन्तर में ज्ञानचक्षु से अर्थात् भावश्रुत से आत्मा को देखने का प्रयत्न करे तो वह दिखता है। ऐसे आत्मा को देखना और अनुभव करना, अभेदभक्ति है। उससे ही आत्मा में से आवरण का क्षय होकर सिद्ध सुख प्राप्त होता है। इस प्रकार भरत महाराजा अपनी रानियों को समझाते हैं।

स्फटिक तो जड़ है, यह चैतन्यमूर्ति आत्मा उससे अत्यन्त विलक्षण है, वह बाहर की आँख से दिखायी नहीं देगा; उसे ज्ञानचक्षु से देखना पड़ेगा। निर्मल आकाश की तरह आत्मा को ज्ञान की मूर्ति समझकर अन्तर में उसका ध्यान करो। संसार का

www.vitragvani.com

मोह बहुत खराब है। परपदार्थ के प्रति मोह के कारण ही आत्मा, परमात्मा की अभेदभक्ति से भ्रष्ट हुआ है। इसलिए सर्व प्रथम परवस्तु की ममतारूप आशा के बन्धन को छोड़ो। परवस्तु की तीव्र आसक्ति छोड़कर, फिर एकान्तवास में जाकर, अन्तर में चैतन्यमूर्ति आत्मा का ध्यान करो। ऐसा करने से अभेदभक्ति होगी और मुक्ति होगी। इस प्रकार भरतजी ने अपनी रानी को उत्तर दिया।

प्रथम तीर्थङ्कर श्री ऋषभदेव भगवान के पुत्र भरत चक्रवर्ती, संसार में रहे होने पर भी धर्मात्मा थे; उन्हें 96 हजार रानियाँ थीं। वे रानियाँ, भरतजी को धर्म के प्रश्न पूछती हैं और भरतजी उनके जवाब देते हैं।

रानी ने प्रश्न पूछा कि आत्मा का अनुभव किस प्रकार होता है ? उसे भरतजी उत्तर देते हैं कि आत्मा, शरीर से भिन्न है। आत्मा को भूलकर परपदार्थों में ममता करके जो तीव्र लोभ करता है, वह बुरा है, उस लोभ को मन्द करके एकान्त में जाकर आत्मा का चिन्तवन करना चाहिए। पहले जगत की तीव्र ममता घटाकर, सत्समागम से आत्मा का स्वरूप सुनें, पश्चात् एकान्त में जाकर अन्तर में उसके ध्यान का प्रयत्न करना चाहिए। अनन्त काल से आत्मा के ज्ञान का प्रयत्न नहीं किया, इसलिए एक ही दिन के प्रयत्न से वह ज्ञात नहीं होता, तो उसके लिए तीव्र प्रयत्नपूर्वक बारम्बार अभ्यास करना चाहिए। बाहर में पैसे इत्यादि की प्राप्ति होने में आत्मा का पुरुषार्थ नहीं परन्तु आत्मा का स्वरूप क्या है — यह पहचानने में आत्मा का पुरुषार्थ है। वास्तविक जिज्ञासा से अभ्यास करते-करते क्रम-क्रम से आत्मा का अनुभव होता है।

www.vitragvani.com

तत्पश्चात् रानी पूछती है कि आत्मा के अनुभव के लिये कुछ पुण्य करने का कहो न? क्या भगवान की भक्ति, दान इत्यादि शुभराग करते-करते आत्मा का अनुभव नहीं होगा? तब भरतजी उत्तर देते हैं कि जिस प्रकार दर्पण के ऊपर चन्दन का लेप करो तो वह भी दर्पण को आवरण का ही कारण है; इसी प्रकार आत्मा में शुभराग से भी आवरण होता है। पहले भेदभक्ति का शुभराग होता है परन्तु उस शुभ तथा अशुभ दोनों से रहित आत्मा का स्वरूप है। उसकी पहचान का निरन्तर प्रयत्न करना चाहिए। भरतजी अपनी स्त्री के प्रति कहते हैं कि हे सुखाकांक्षिणी! भेद भक्ति से पुण्य होता है, और उससे स्वर्गादि पद मिलते हैं, परन्तु आत्मा का सुख उससे नहीं मिलता। रागरहित ज्ञानस्वरूपी आत्मा का श्रद्धा-ज्ञान करके उसके ध्यान में एकाग्र होना, वह अभेदभक्ति है और वह अभेदभक्ति ही मोक्ष-सुख का कारण है। अभेदभक्ति ही मुक्ति का कारण है और भेद भक्ति, बन्ध का कारण है। यह बात भव्य सज्जन पुरुष उल्लास से स्वीकार करते हैं परन्तु जिसकी होनहार खराब है, ऐसा अभव्य जीव उसे स्वीकार नहीं करता।

अहो! यह देह तो जड़ और नाशवान है तथा मैं चैतन्यमूर्ति अविनाशी हूँ—ऐसे आत्मा की पहचान और ध्यान की रुचि भव्य जीवों को ही होती है, अभव्य जीव को आत्मा के ध्यान की रुचि नहीं होती। देखो! संसार में रहे हुए धर्मात्मा पति-पत्नी भी ऐसी धर्मचर्चा बारम्बार करते हैं।

विद्यामणि नाम की स्त्री भक्तिपूर्वक भरतजी से पूछती हैं कि - स्वामीनाथ! शरीर और राग से भिन्न आत्मस्वभाव का ज्ञान-

www.vitragvani.com

ध्यान करनेरूप अभेदभक्ति पुरुषों को ही हो सकती है या हम स्त्रियों को भी होती है ?

तब भरत महाराजा उत्तर देते हैं - उस अभेदभक्ति के दो प्रकार हैं — (1) शुक्लध्यान, (1) धर्मध्यान। यद्यपि कहने में तो ये दोनों अलग लगते हैं परन्तु इन दोनों के अवलम्बनरूप आत्मा एक ही है; इसलिए ये एक ही प्रकार के हैं। आत्मस्वभाव के भान द्वारा स्त्रियों को भी धर्मध्यान हो सकता है। स्त्रियों को शुक्लध्यान नहीं हो सकता। धर्मध्यान की अपेक्षा शुक्लध्यान विशेष निर्मल है।

स्त्री हो या पुरुष, उन दोनों का आत्मा तो एक ही प्रकार का है। बाहर के शरीर के अन्तर से अन्दर के आत्मा में अन्तर नहीं पड़ता। ध्यान का अवलम्बन तो देह से भिन्न आत्मा है। शरीर के अवलम्बन से ध्यान नहीं होता है। स्त्री को भी आत्मा के अवलम्बन से धर्मध्यान होता है। आत्मा, शरीर से भिन्न है और अन्दर में पुण्य-पाप की वृत्ति होती है, उससे भी आत्मा भिन्न है।

समस्त जीवों को धर्म के लिए तो आत्मा का ही अवलम्बन है - ऐसे आत्मा का अवलम्बन करके ध्यान करे तो स्त्री को भी आत्मा का अनुभव होता है। आत्मा आनन्दस्वरूप है। उसकी पहचान करके उसके ध्यान में एकाग्र होने पर, पर का विचार छूट जाये, इसका नाम भला ध्यान है और पर के विचार में एकाग्र होने से आनन्दमूर्ति आत्मा को भूल जाना, वह बुरा ध्यान है।

मैं शरीरादि से भिन्न हूँ; पुण्य और पाप की शुभ-अशुभ वृत्तियाँ भी कृत्रिम हैं, वे नयी-नयी होती हैं और उनका जानने-देखनेवाला ज्ञानस्वरूप मैं त्रिकाल हूँ। ऐसे आत्मा की महिमा में एकाग्र होने से

www.vitragvani.com

परवस्तु के विचार छूट जाना, वह भला ध्यान है और आत्मा की महिमा भूलकर पर के विचार में एकाग्र होना, वह खोटा ध्यान है। आत्मा को पहचानकर एकाग्र हो, उतनी शान्ति प्रगट होती है। सत् समागम से आत्मा की पहचान और ध्यान करने का सतत् प्रयत्न करे तो इस काल में भी आत्मा का ध्यान होता है। ऐसा ध्यान, वह अभेदभक्ति है और उस अभेदभक्ति से ही मुक्ति होती है।

श्री भरत महाराजा के मुख से अभेदभक्ति की ऐसी सुन्दर चर्चा सुनकर वे रानियाँ अत्यन्त प्रसन्न हुईं और अन्तर में उल्लासपूर्वक उस अभेदभक्ति का प्रयत्न करने लगी।

अपूर्व चीज : आत्मा की समझ

देखो भाई! आत्मस्वभाव की समझ करना ही अपूर्व चीज है। अनन्त काल में सब किया है परन्तु अपना आत्मस्वभाव क्या है, वह समझा नहीं। इस जीवन में वही करने योग्य है, उसके बिना जीवन में जो कुछ करे, वह सब व्यर्थ है और संसार का कारण है। अनन्त काल से आत्मा की समझ नहीं की; इसलिए उसके लिए अनन्त दरकार और रुचि चाहिए।

छोटे से सिद्ध

सम्यग्दर्शन प्रगट होने पर आत्मा का अनुभव होता है। जैसा सिद्ध भगवान को होता है, वैसा चौथे गुणस्थान में समकिती जीव को अनुभव होता है; सिद्ध को पूर्ण अनुभव होता है और समकिती को आंशिक अनुभव होता है परन्तु जाति तो वही है। समकिती, आनन्दसागर के अमृत का अपूर्व स्वाद ले रहा है, आनन्द के झरने में मौज कर रहा है। *(समयसार बन्ध अधिकार के प्रवचनों में से)*

www.vitragvani.com

ज्ञानज्योति की झनझनाहट

जीव, अज्ञानभाव से स्वर्ग में भी अनन्त बार गया और नरक में भी अनन्त बार गया; पुण्य-पाप को आत्मा के साथ अभेदभाव की मान्यता से चारों गतियों में अनन्त काल से परिभ्रमण किया परन्तु जहाँ यह ज्ञानज्योति झनझनाहट करती हुई जागृत हुई और चार गति के कारण को मूल में से उखाड़ती हुई प्रगट हुई, वहाँ परिभ्रमण मिट गया और अंशतः मुक्ति की पर्याय प्रगट हुई। सच्ची समझ ने अज्ञानरूपी अन्धकार का नाश किया है। मेरा आत्मा ज्ञाता-दृष्टा वीतरागी स्वभाव ही है — ऐसे ज्ञान में स्वीकारती ज्ञानज्योति भले प्रकार सुसज्जित हुई है।

जिस प्रकार तलवार को सुसज्जित करते हैं; उसी प्रकार ज्ञानज्योति भले प्रकार सुसज्जित हुई है, अर्थात् तैयार हुई है। ऐसी तैयार हुई है कि जो प्रगट होकर केवलज्ञान लेकर ही रहेगी। केवलज्ञान लेने में बीच में कोई विघ्न आनेवाला ही नहीं है। ज्ञानज्योति प्रगटी सो प्रगटी; अब अखण्ड धारा से केवलज्ञान तक पहुँच ही जानेवाली है। ज्ञानज्योति ऐसी सुसज्जित हुई है कि ज्ञान-आनन्द करती हुई केवलज्ञान समुद्र में मिल जानेवाली है। ऐसा उसका फैलाव, उसे कोई आवृत नहीं कर सकता है, रोक नहीं सकता है। चैतन्य की ज्ञानज्योति जागृत हुई, उसे रोकने को-आवृत करने को समर्थ इस जगत में कोई पदार्थ नहीं है। किसी पदार्थ का ऐसा गुण नहीं या किसी पदार्थ की ऐसी पर्याय नहीं। जाननेवाला जागे, उसे आवरण करने के लिए तीन काल-तीन लोक में किसी की शक्ति नहीं है। इसलिए आचार्यदेव कहते हैं कि —

www.vitragvani.com

अरे आत्मा! तू जाग... तू जागकर देख तो तेरे स्वभाव में बन्धन है ही नहीं – ऐसा भान होने पर द्रव्यबन्ध भी टूट ही जायेगा, रहेगा नहीं। जब ज्ञान प्रगट होता है, तब रागादिक नहीं रहते और उनका कार्य जो बन्ध, वह भी नहीं रहता, तत्पश्चात् ज्ञान को आवरण करनेवाला कोई नहीं रहता, वह ज्ञान सदा प्रकाशमान ही रहता है। *(समयसार, बन्ध अधिकार के प्रवचनों से)*

जीवन का कर्तव्य

अहो! धर्मात्मा जीव को जीवन में करनेयोग्य यदि कुछ हो तो आत्मा और ज्ञान की सम्पूर्ण एकता ही करना, यही करने योग्य है। पहले राग से भिन्नता और ज्ञान के साथ आत्मा की एकता की श्रद्धा करना और फिर ज्ञान को स्वरूप में स्थिर करके वीतरागभाव प्रगट करके सम्पूर्ण एकता करना; इसके अतिरिक्त दूसरा कुछ करने योग्य नहीं है। इसमें ही मोक्षमार्ग अथवा धर्म, जो कहो वह आ जाता है। किसी भी पर के कारण ज्ञान खिले, ऐसा जिसने माना है, उसने राग के साथ ही ज्ञान की एकता की है। ऐसा अज्ञानी जीव प्रत्येक संयोग के समय ज्ञान और आत्मा की एकता को तोड़ता है, वह अधर्म है। ज्ञान के साथ आत्मा की एकता और रागादि से भिन्नता की श्रद्धा से ज्ञानी जीव को कैसे भी प्रसंग के समय भी प्रति समय स्वभाव में ज्ञान की एकता बढ़ती जाती है और राग टूटता जाता है, वह धर्म है। *(भेदविज्ञानसार में से)*

www.vitragvani.com

आत्मज्ञ, वह शास्त्रज्ञ

जो अप्पाणं जाणदि, असुइसरीरादु तच्चदो भिण्णं।
जाणगस्वसरूवं, सो सत्थं जाणदे सव्वं॥

अर्थात् जो मुनि, अपने आत्मा को, इस अपवित्र शरीर से भिन्न ज्ञायकस्वरूप जानता है, वह सब शास्त्रों को जानता है।

भावार्थ : जो मुनि, शास्त्र-अभ्यास अल्प भी करता है और अपने आत्मा का रूप ज्ञायक, अर्थात् देखने-जाननेवाला, इस अशुचि शरीर से भिन्न, शुद्ध उपयोगरूप होकर जानता है, वह सब ही शास्त्र जानता है। अपना स्वरूप न जाना और बहुत शास्त्र पढ़े, तो क्या साध्य है ?

जो णवि जाणदि अप्पं, णाणसरूवं सरीरदो भिण्णं।
सो णवि जाणदि सत्थं, आगमपाढं कुणंतो वि॥

अर्थात् जो मुनि, अपने आत्मा को ज्ञानस्वरूपी, शरीर से भिन्न नहीं जानता है, वह आगम का पाठ करे तो भी शास्त्र को नहीं जानता है।

भावार्थ : जो मुनि, शरीर से भिन्न ज्ञानस्वरूप आत्मा को नहीं जानता है, वह बहुत शास्त्र पढ़ता है तो भी बिना पढ़ा ही है। शास्त्र पढ़ने का सार तो अपना स्वरूप जानकर, राग -द्वेष रहित होना था, सो पढ़कर भी ऐसा नहीं हुआ, तो क्या पढ़ा ? अपना स्वरूप जानकर उसमें स्थिर होना, वह निश्चयस्वाध्यायतप है। वांचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश — ऐसे पाँच प्रकार का

www.vitragvani.com

व्यवहारस्वाध्याय है, सो यह व्यवहार, निश्चय के लिये हो तो वह व्यवहार भी सत्यार्थ है और बिना निश्चय के व्यवहार सारहीन (थोथा) है। *(स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा 463-64)*

दुनिया में महिमावन्त कौन

माहात्म्य करने योग्य दुनिया में कोई हो तो वह सर्वज्ञ प्रणीत धर्म और धर्मात्मा ही है। वर्तमान में वे धर्मात्मा भले कदाचित निर्धन स्थिति में हो परन्तु अल्प काल में इस जगत को वन्द्य तीन लोक के नाथ होनेवाले हैं। लौकिक में तो पुण्य से बड़ा, वह बड़ा कहलाता है। वकील, डॉक्टर इत्यादि दिन में कितने रुपये कमाते हैं, इस आधार से उनकी महिमा होती है परन्तु खानदान कैसा है, आत्मज्ञान -श्रद्धा कैसी है, इस आधार पर लोग नहीं देखते। बाहर में देखते हैं। परन्तु धर्म में तो धर्मात्मा को बाह्य सामग्री कैसी है, वह नहीं दिखता परन्तु स्वतन्त्र आत्मगुण की समृद्धि कैसी है, वह दिखता है। जिनमें सम्यग्दर्शनादि प्रगट हुए हैं, वे जीव इस जगत् में महिमावन्त हैं।

(पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी)

www.vitragvani.com

शुद्ध आत्मा के प्रति अपार उत्साह

'दशाऊँ तो करना प्रमाण....'

इस शब्दब्रह्मस्वरूप परमागम से दर्शाये गये एकत्व-विभक्त आत्मा को प्रमाण करना; हाँ ही करना, कल्पना करना नहीं। इसका बहुमान करनेवाला भी भाग्यशाली है।

श्री आचार्य भगवान कहते हैं कि इस समयसार के द्वारा मैं मेरे आत्मा के स्ववैभव से एकत्व-विभक्त शुद्ध आत्मा का स्वरूप दर्शाता हूँ, उसका श्रवण करनेवाले, हे श्रोताओ! श्रवण करते हुए तुम भी एकत्व-विभक्त शुद्ध आत्मा के अतिरिक्त दूसरी बात तुम्हारे बीच में मत लाना; और मुझमें भी वह मत देखना। एकत्व-विभक्त शुद्ध आत्मा ही कहना चाहता हूँ; अत: वह सुनते हुए तुम भी उसका ही लक्ष्य रखना।

आत्मा के एकत्व-विभक्तस्वरूप का कथन करते हुए बीच में कहीं विभक्ति इत्यादि का दोष आ जाये तो उस दोष को देखने में रुकना नहीं और तुम्हें व्याकरणादि न आवे तो तुम्हारे में भी उस दोष को देखना नहीं, क्योंकि मेरे लक्ष्य का जोर भाषा पर नहीं परन्तु शुद्ध आत्मा पर ही है, उसमें तो मेरी भूल होगी ही नहीं; इसलिए तुम भी, मैं जैसा शुद्ध आत्मा दर्शाना चाहता हूँ, वैसे शुद्ध आत्मा को ही लक्ष्य में रखकर उपादान-निमित्त के भाव की सन्धि करना; इसलिए मैं मेरे स्वानुभव से जैसा शुद्धात्मा कहना चाहता हूँ, वैसा शुद्धात्मा तुम भी स्वानुभव से समझ जाओगे।

यहाँ व्याकरण इत्यादि के ज्ञान की महिमा नहीं है परन्तु जो

www.vitragvani.com

आत्मस्वभाव की ओर ढलकर शुद्ध आत्मा का अनुभव करता है, उस ज्ञान की ही महिमा है। इसलिए आचार्यदेव कहते हैं कि हे जीव! तू शुद्ध आत्मा को ही प्रमाण करना; हमारी वाणी के लक्ष्य से नहीं परन्तु तेरे स्वानुभव से तू प्रमाण करना; वाणी के लक्ष्य से तो विकल्प होगा, उसकी मुख्यता नहीं करना, दूसरे किसी जानकारी की मुख्यता नहीं करना परन्तु शुद्ध आत्मा की मुख्यता करके उसका स्वानुभव करना। कोई कहे कि यह समयसार सुनकर क्या करना? तो आचार्य कुन्दकुन्द प्रभु कहते हैं कि स्वानुभव से शुद्ध आत्मा को प्रमाण करना।

आचार्यदेव कहते हैं कि मेरे आत्मा का जितना निज वैभव है, उस सर्व से मैं इस एकत्व-विभक्त आत्मा को दर्शाऊँगा। मैं जिस प्रकार दर्शाऊँ, उसी प्रकार श्रोता को स्वयमेव अपने अनुभव प्रत्यक्ष से परीक्षा करके प्रमाण करना। बाहर की जानकारी के बोल में कहीं चूक जाऊँ तो उसे ग्रहण करने में सावधान नहीं होना; सावधानी तो शुद्ध आत्मा की ही रखना।

हे जीव! यदि तू एकत्व-विभक्त आत्मा के अतिरिक्त मुझमें दूसरा लक्ष्य करके अटकेगा तो तुझमें ही दोष की उत्पत्ति होगी। पर की ओर लक्ष्य करके अटका, वही दोष है। प्रथम तो तू तुझमें दोष करके अटकेगा, तब दूसरे के दोष की ओर तेरा लक्ष्य जायेगा न? परन्तु तू एकत्व-विभक्त शुद्धात्मा के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं लक्ष्य करके अटकेगा नहीं तो दूसरे में भी तुझे दोष देखने का विकल्प खड़ा नहीं होगा। मैं शुद्धात्मा कहता हूँ और तू उसकी हाँ ही करना। मैं जो बतलाना नहीं चाहता, उस पर तू भी वजन मत

www.vitragvani.com

देना। मैं जिस एकत्व-विभक्त आत्मा को दर्शाना चाहता हूँ, उसे लक्ष्य में लेकर उसकी हाँ करना।

श्री आचार्यदेव निर्मानतापूर्वक कहते हैं कि मैं अभी छद्मस्थ हूँ; श्री तीर्थङ्कर भगवान की दिव्यध्वनि में या गणधरदेव की रचना में तो किसी प्रकार की भूल नहीं आती परन्तु मेरी इतनी सामर्थ्य नहीं है, इसलिए कहीं व्याकरण इत्यादि में दोष आ जाना सम्भव है। स्वानुभव में तो मैं नि:शंक हूँ, मेरे स्वानुभव से मैं शुद्धात्मा का जो कथन करूँगा, उसमें तो कहीं चूक पड़ेगी ही नहीं। अहो! आचार्यदेव को जितनी नि:शंकता है, उतनी ही निर्मानता है। इसलिए कहते हैं कि मैं सर्वज्ञ नहीं परन्तु छद्मस्थ हूँ, तथापि मुझे शुद्धात्मा का प्रचुर स्वसंवेदन वर्तता है; इसलिए मैं मेरे स्वानुभव से शुद्धात्मा का जो वर्णन करूँगा, उसमें तो कहीं दोष आयेगा ही नहीं परन्तु व्याकरण की विभक्ति इत्यादि में कदाचित् कोई दोष आ जाये और तेरे ज्ञान के क्षयोपशम में वह ज्ञात हो जाये तो तू उस जानपने पर या दोष पर मुख्यरूप से मत देखना परन्तु उसे गौण करके एकत्व-स्वभाव को ही मुख्यरूप से देखना, उस स्वभाव की ओर ही झुकना।

देखो, आचार्य भगवन्त को शुद्धात्मा दर्शाने का विकल्प उत्पन्न हुआ है, वह सामने शिष्य की भी शुद्धात्मा का अनुभव करने की पात्रता का सूचक है। मैं दर्शाता हूँ और तुम उसे प्रमाण करना - ऐसा आचार्यदेव ने कहा तो सामने उस शुद्धात्मा को प्रमाण करनेवाले जीव न हों - ऐसा होता ही नहीं। 'दर्शाऊँ तो करना प्रमाण' - ऐसा कहने में आचार्यदेव को विश्वास है कि शिष्य ने पूर्व में अनन्त

www.vitragvani.com

काल में जिस प्रकार शुद्धात्मा का यथार्थ श्रवण नहीं किया, उस भाव को टालकर अब अलग ही प्रकार से अपूर्वरूप से शुद्धात्मा का यथार्थ श्रवण करके उस शुद्धात्मा को समझ जायेगा। पूर्व में तूने जिसे कभी नहीं जाना, ऐसा शुद्धात्मा मैं तुझे अभी दर्शाता हूँ; इसलिए तू अपूर्व भाव से उसे प्रमाण करके स्वानुभव करना।

इस प्रकार इस समयसार के सुननेवाले और कहनेवाले दोनों को शुद्धात्मा के प्रति अपार उत्साह है। 'मैं शुद्ध आत्मा बतलाता हूँ और तू उसकी हाँ ही करके तेरे स्वानुभव से प्रमाण करना' – ऐसा कहकर फिर तुरन्त छठवीं गाथा में श्री आचार्यदेव, आत्मा का एकत्व-विभक्त ज्ञायकस्वभाव दर्शाते हैं।

(श्री समयसार गाथा-५ पर पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन में से)

तभी धर्म की शुरूआत होती है;

प्रत्येक आत्मा प्रभु है, पूर्ण सामर्थ्यवान् है; अवस्था में अपूर्णता भले ही हो, परन्तु सदा अपूर्णता ही रहा करे और पूर्णता प्रगट ही नहीं हो सके – ऐसा उसका स्वभाव नहीं है। पर्याय से भी परिपूर्ण होने का प्रत्येक आत्मा का स्वरूप है; प्रत्येक आत्मा निर्लेप, निर्दोष परिपूर्ण परमात्मा है – ऐसा भगवान की वाणी का पुकार है। अपने ऐसे पूर्ण आत्मा को पहचानकर, उसके अनुभवसहित सम्यग्दर्शन होता है और तभी धर्म की शुरूआत होती है; इसके अतिरिक्त धर्म का प्रारम्भ नहीं होता। *(पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी)*

www.vitragvani.com

धन्य जीवन

अहो! जो चैतन्यलक्ष्यी जीवन है, वही प्रशंसनीय है... चैतन्य के लक्ष्यरहित जीवन तो मृतक समान है। चैतन्य का भान करके जो उसके अनुभव में स्थिर हुआ, उसकी धन्यता की तो बात ही क्या? परन्तु जगत् जञ्जाल की चिन्ता छोड़कर, जिसके अन्तरङ्ग में आत्मा के हित की चिन्ता जागृत हुई है, उसका जीवन भी प्रशंसनीय है।

यह जीव, अनादि काल से संसार में परिभ्रमण कर रहा है। अनादि से संसार में परिभ्रमण करते हुए इसने आत्मा को विस्मृत करके, शरीरादि पर की ही चिन्ता की है किन्तु आत्मा का स्वभाव क्या है और उसका संसार परिभ्रमण कैसे मिटे? – इसकी चिन्ता कभी नहीं की है; इसलिए आचार्य भगवान कहते हैं कि अहो! जो चैतन्यस्वरूप आत्मा में स्थिर हुए हैं, उनकी तो क्या बात! परन्तु जिन्होंने आत्मा की चिन्तामात्र का परिग्रह किया है, उनका जीवन भी प्रशंसनीय है।

अस्तां तत्र स्थितो यस्तु चिंतामात्रपरिग्रहः।
तस्यात्र जीवितं श्लाध्यं, देवैरपि स पूज्यते॥

जो पुरुष इस शुद्धात्मा को पहचान कर, उसके ध्यान में स्थिर रहता है, उसकी बात तो दूर रहो, परन्तु जो पुरुष शुद्धात्मा की चिन्ता का परिग्रह करनेवाला है, उसका जीवन भी इस संसार में प्रशंसनीय है तथा वह देवों द्वारा भी पूज्य है। इसलिए भव्य जीवों को सदा शुद्धात्मा का चिन्तन करना चाहिए।

श्री पद्मनन्दि मुनिराज, महान् दिगम्बर सन्त मुनि थे। वे जङ्गल

www.vitragvani.com

में आत्मा की रमणता में निमग्न रहते थे। उन्होंने जङ्गल में इस पद्मनन्दिपञ्चविंशति शास्त्र की रचना की है। उसमें वे कहते हैं कि अहो! जो जीव, देह और विकार से भिन्न चैतन्यस्वरूप आत्मा को जानकर उसके ध्यान में स्थिर होता है, उसकी बात तो दूर रहो अर्थात् उसकी तो बात ही क्या है! परन्तु जिसे मात्र शुद्धात्मा की चिन्ता का परिग्रह वर्तता है अर्थात् जो अन्य सभी चिन्ताएँ छोड़कर मात्र आत्मा के चिन्तन में सदा तत्पर रहता है, उसका जीवन भी धन्य है। लक्ष्मी इत्यादि के परिग्रह की पकड़ तो ममता और संसार का कारण है; इसलिए उस जीवन को धन्य नहीं कहते, किन्तु चैतन्यतत्त्व की चिन्ता की जिसने पकड़ की है – ऐसे जीवन को सन्त प्रशंसनीय कहते हैं। यहाँ चिन्ता कहने से राग नहीं समझना चाहिए, अपितु ज्ञान में चैतन्य की महिमा का घोलन समझना चाहिए।

संसार में परिभ्रमण करते हुए अनन्त बार मनुष्य देह पाकर भी आत्मा के भान बिना मरण किया परन्तु आत्मा क्या है ? – उसकी बात का परिज्ञान नहीं किया; इसलिए यहाँ उसकी महिमा बतलाते हुए कहते हैं कि बाहर की चिन्ता मिटाकर जो आत्मस्वरूप में स्थिर हैं, उन्होंने तो करने योग्य कार्य कर लिया है, उनकी तो क्या बात! परन्तु जिन्हें जगत् की चिन्ता छोड़कर, आत्मा की चिन्ता की पकड़ भी हुई है कि अहो! मैंने अपने आत्मा को अनन्त काल से पहचाना नहीं, अनन्त काल में कभी आत्मा का ध्यान नहीं किया; आत्मा को भूलकर बाह्य पदार्थों की चिन्ता में ही परिभ्रमण किया है; अब, सत्समागम से आत्मा को जानकर उसी का ध्यान करनेयोग्य है – ऐसी आत्मा की चिन्ता का परिग्रह करे, पकड़ करे, उसका जीवन भी प्रशंसनीय है।

www.vitragvani.com

श्रीमद् राजचन्द्रजी इस पद्मनन्दिपञ्चविशति शास्त्र को 'वन शास्त्र' कहते हैं। यह शास्त्र वन में रचित है और वन में रहकर ज्ञान-ध्यान करने के लिये यह एक उत्तम शास्त्र है; इसलिए इसे 'वन शास्त्र' कहा है। आत्मा का भान करके जो आत्मध्यान में स्थिर हुए हैं, उन्हें तो सर्वत्र वन ही है, उनका आत्मा ही उनका वन है।

अहा! मेरा स्वभाव जगत् का साक्षी/ज्ञाता है, क्षणिक विकार अथवा देह मेरा स्वरूप नहीं है; इस प्रकार जिसके अन्तर में चैतन्य की चिन्ता जागृत हुई है, उसकी आचार्यदेव प्रशंसा करते हैं। अहो! जो चैतन्यलक्ष्यी जीवन जीता है, वही प्रशंसनीय है। जो जीव, चैतन्य के लक्ष्य बिना जीवन जीते हैं, वे तो मृतक समान हैं।

यह शरीर तो संयोगी अनित्य है - ऐसे शरीर तो अनन्त आये और गये, किन्तु मेरा आत्मा अनादि-अनन्त एकरूप है, उसका कभी नाश नहीं होता। इस प्रकार जिसे दिन-रात आत्मा की चिन्ता जागृत हुई है, आत्मा क्या है? - उसका भान करने के लिये, उसका ध्यान करने के लिये, उसकी भावना करने के लिये, जिसे सदा अन्तर में रटन चालू है, उसका जीवन प्रशंसनीय है। जगत् की, जञ्जाल की चिन्ता के समक्ष जिसे आत्मा के विचार का भी अवकाश नहीं है, उसका जीवन तो व्यर्थ चला जाता है। जगत् की, जञ्जाल की चिन्ता का झंझट छूटकर जिसे आत्मा की चिन्ता जागृत हुई है, उसका जीवन धन्य है।

अमेरिका में ऐसी मशीन होती है कि उसमें पैसा डालते ही अपने आप फोटो पडकर (खिंचकर) बाहर आ जाता है। लोगों को ऐसी मशीन का विश्वास आता है परन्तु आनन्दकन्द आत्मा में

www.vitragvani.com

जितनी पुरुषार्थ की एकाग्रता करे, उतनी निर्मल पर्याय प्रगट होती है अर्थात् जैसी पुरुषार्थ की एकाग्रता करे, वैसा ही फोटो पर्याय में पड़ जाता है – ऐसी चैतन्यशक्ति का विश्वास जगत् को नहीं आता है। चैतन्य शक्ति को पहचानकर उसके साँचे में जितनी पुरुषार्थ की एकाग्रतारूप कीमत डालें, उतनी निर्मलदशा अन्दर की शक्ति में से प्रगट हुए बिना नहीं रहती।

'एक अणुबम गिरता है तो सम्पूर्ण नगर का नाश कर देता है' – इस प्रकार जगत् के जीव अणुबम की शक्ति का विश्वास और महिमा करते हैं किन्तु आत्मा के श्रद्धारूपी अणुबम में ऐसी सामर्थ्य है कि वह अनन्त कर्मों को एक क्षण में भस्म कर देता है; उसका विश्वास और महिमा आना चाहिए। पहले अन्तर में आत्मा की जिज्ञासा और मन्थन जागृत होना चाहिए। अन्तर के चैतन्यतत्त्व को शोधन के लिये उसका अनुभव करना चाहिए, उसका साक्षात्कार करने के लिये और उसके ध्यान में स्थिर होने के लिये जिसे रात और दिन; स्वप्न अथवा जागृतदशा में; हिलते-चलते सदा रटन चलती है, उसका जीवन धन्य है।

जिस प्रकार माता से पृथक् पड़े हुए बालक को 'मेरी माँ... मेरी माँ...' इस प्रकार अपनी माता की ही रटन रहा करती है। कोई उससे पूछे कि तेरा नाम क्या है ? तो वह कहेगा 'मेरी माँ।' कोई उससे खाने के लिये पूछे तो कहेगा 'मेरी माँ', इस प्रकार वह माता की ही रटन करता है; इसी प्रकार जिन भव्य जीवों को अन्तर में आत्मा की दरकार जगती है, आत्मा की ही रटन और आत्मा की ही चिन्ता जो प्रगट करते हैं, जो आत्मा के अतिरिक्त अन्य की रुचि अन्तरङ्ग में नहीं होने देते, उनका जीवन धन्य है।

www.vitragvani.com

अहो! मेरा आत्मा पूर्ण चिदानन्दस्वरूप है। जब तक उसका भान और प्राप्ति न हो, तब तक यथार्थ शान्ति अथवा सुख प्राप्त नहीं हो सकता है। अभी तक का अनन्त काल आत्मभान के बिना भ्रान्ति में गँवाया है, अब एक क्षण भी गँवाना नहीं है। इस प्रकार आत्मा की चिन्तावाला जीव अन्य किसी की रुचि नहीं करता।

अहो! जो इस चैतन्यस्वभाव का भान प्रगट करके, ध्यान में उसे ध्याता है, उसकी महिमा की क्या बात करना! उसने तो कार्य प्रगट कर लिया है; इसलिए वह तो कृतकृत्य है ही, परन्तु जिसने उसके कारणरूप रुचि प्रगट की है अर्थात् जिसे यह चिन्ता प्रगट हुई है कि अहो! मेरा कार्य कैसे प्रगट हो? मुझे अन्दर से आनन्दकन्द आत्मा का अनुभव कैसे प्रगट हो? उस आत्मा का जीवन भी धन्य है, संसार में उसका जीवन प्रशंसनीय है – ऐसा सन्त-आचार्य कहते हैं।

आचार्यदेव कहते हैं कि जिसने जगत् में पैसा, स्त्री, शरीर इत्यादि की चिन्ता में अभिवृद्धि की है, उसका जीवन हम प्रशंसनीय नहीं कहते हैं परन्तु जिसने अन्य परिग्रह की चिन्ता छोड़कर चैतन्य की चिन्ता का ही परिग्रह किया है, उसका जीवन शान्ति और समाधि प्रदान करने के कारणरूप है, मनोहर है, रमणीय है, प्रशंसा योग्य है; देह छूटने के काल में उसे अन्तर में आत्मा की शान्ति और समाधि प्रगट होगी; इसलिए उसका जीवन धन्य है। बड़े-बड़े देव भी आकर ऐसे भव्य जीवों की सेवा और आदर करते हैं।

यह मनुष्यभव प्राप्त करके करोड़ों रुपये कमाना अथवा मान प्रतिष्ठा इत्यादि प्राप्त करने में जीवन व्यतीत करने को यहाँ धन्य

www.vitragvani.com

नहीं कहते हैं, अपितु जो अन्तरङ्ग में चैतन्य की भावना करता है, उसका जीवन धन्य है – ऐसा कहते हैं।

मैं इस जड़ शरीर से भिन्न हूँ। अहो! मेरे आत्मा का क्या होगा? यह जड़ शरीर तो यहीं पड़ा रहेगा और मैं तो अकेला चला जाऊँगा। जब यह शरीर ही मेरे साथ स्थायी रहनेवाला नहीं है, तब फिर अन्य स्त्री, परिवार, लक्ष्मी इत्यादि की तो बात ही क्या है? अरे! विकार भी मेरा स्वरूप नहीं है, मेरा आत्मा नित्य शुद्ध चिदानन्द है। सिद्ध भगवान जितना परिपूर्ण सामर्थ्य मुझमें भरा है, उसे मैं पहचानूँ; इस प्रकार जिसे चौबीस घण्टे अन्तरङ्ग में रटन चलती है – ऐसे धर्म की चिन्तावाले धर्मात्माओं को धन्य है! ऐसी पवित्रतावाले जीवों का पुण्यवन्त देव भी आदर करते हैं।

आत्मस्वभाव के लक्ष्यवाला जीवन ही आदरणीय है, इसके अतिरिक्त दूसरा जीवन आदरणीय नहीं गिना गया है; इसलिए भव्यात्माओं को बारम्बार शुद्धात्मा की चिन्ता में और उसी के रटन में रहना चाहिए – ऐसा श्री आचार्यदेव का उपदेश है।

शरीर, पैसा, परिवार अथवा देश इत्यादि का जो होना हो, वह होगा; उन्हें संयोगरूप रहना होगा तो रहेंगे, जाना होगा जाएँगे; मेरे आत्मा से तो वह सब भिन्न हैं। मैं नित्य रहनेवाला चैतन्यबिम्ब हूँ, उसे पहचानकर उसमें स्थिर रहूँ – यही मेरा कर्तव्य है। जिसे आत्मा की ऐसी रुचि और छटपटाहट प्रगट हुई है, उसे वह नित्य शान्ति और आनन्द प्रदाता है। उसका जीवन धन्य है। भाई! करने योग्य हो तो यह एक ही कार्य है। ●

[पद्मनन्दिपञ्चविंशति एकत्वसप्तती अधिकार, गाथा 65 के प्रवचन से]

www.vitragvani.com

समयसार के श्रोता का कर्तव्य

श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव कहते हैं कि मैं समयसार की टीका करता हूँ; समयसार, अर्थात् शुद्ध आत्मा, उसका वर्णन करने का मेरा हेतु है; इसलिए इस टीका का ध्येय तो शुद्ध आत्मा ही है। भले ही बीच में विकार का वर्णन आयेगा अवश्य परन्तु मेरा प्रयोजन तो उस विकार से भिन्न शुद्ध आत्मा दिखलाने का ही है। विकार को हेयरूप बतलाते हुए उसका वर्णन आयेगा और शुद्ध आत्मा को उपादेयरूप बतलाते हुए उसका वर्णन आयेगा। टीका करते हुए मेरा लक्ष्य विकार पर नहीं परन्तु शुद्धात्मा पर ही है। टीका द्वारा मैं शुद्धात्मा का स्वरूप समझाना चाहता हूँ; इसलिए समयसार का श्रवण करनेवाले श्रोताओं को भी वही लक्ष्य होना चाहिए। शुभभाव को ही प्रयोजन मानकर अटक जाये तो उसने समयसार का श्रवण नहीं किया कहा जायेगा। विकाररहित ज्ञायक शुद्ध आत्मा है, वह बतलाने का हेतु है; इसलिए श्रोताओं को भी वही प्रयोजन रखकर श्रवण करना चाहिए।

आचार्य कहते हैं कि तू सिद्ध है, तेरे आत्मा में हम सिद्धत्व स्थापित करते हैं; तेरे सिद्धस्वभाव के लक्ष्य से श्रवण करना; बीच में विकल्प आवे, उस विकल्प या निमित्त पर लक्ष्य का जोर मत देना, लक्ष्य का जोर तो शुद्ध आत्मा पर ही रखना। मेरा आत्मा विकाररहित शुद्ध ज्ञाता है, उस पर ही मेरा लक्ष्य है और श्रोताओं को इस टीका द्वारा मैं उसका लक्ष्य कराना चाहता हूँ; इसलिए श्रोताओं को भी अपना आत्मा, विकाररहित है — ऐसे स्वभाव के

www.vitragvani.com

लक्ष्य से सुनना चाहिए। इस प्रकार आचार्यदेव, विकार के अंश की दृष्टि छुड़ाकर शुद्धात्मा की रुचि कराते हैं। शास्त्र के शब्द पर या उनके लक्ष्य से होनेवाले विकल्प पर रुचि का जोर न देकर, शास्त्र के वाच्यभूत शुद्ध आत्मस्वभाव की रुचि करके उसका अनुभव करने का आचार्यदेव कहते हैं।

मैं समयसार की टीका करता हूँ, अर्थात् वास्तव में तो टीका के वाच्यभूत शुद्धात्मा का घोलन करता हूँ। उस शुद्धात्मा के घोलन से मेरी परिणति निर्मल-निर्मल होती जाती है और जो श्रोताजन ऐसे शुद्धात्मा को स्वानुभव से समझेंगे, उन्हें भी मोह का क्षय होकर परिणति निर्मल होगी।

देखो, यह आत्मार्थी जीव की पात्रता!

आत्मार्थी जीव को अपना आत्मस्वरूप समझने के लिए इतनी गरज है कि दूसरे लोग मान-अपमान करें, उसके समक्ष देखता भी नहीं है। मुझे तो अपनी आत्मा को रिझाना है, मुझे जगत् को नहीं रिझाना है; इस प्रकार जगत् की अपेक्षा उसे आत्मा प्रिय लगा है, आत्मा से जगत् प्रिय नहीं है - ऐसी आत्मा की लगन के कारण वह जगत् के मान-अपमान को नहीं गिनता है। मुझे स्वयं समझकर अपनी आत्मा का हित साधना है - ऐसा ही लक्ष्य है परन्तु मैं समझकर दूसरों से अधिक हो जाऊँ या मैं समझकर दूसरों को समझा दूँ - ऐसी वृत्ति उसे उत्पन्न नहीं होती। देखो, यह आत्मार्थी जीव की पात्रता!

(पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी)

www.vitragvani.com

सम्यक्त्व के निमित्त

उपदेशक ज्ञानी का आत्मा, अन्तरङ्ग निमित्त और ज्ञानी की वाणी, अर्थात् जिनसूत्र, बहिरङ्ग निमित्त

सम्यग्दर्शन प्रगट करनेवाले जीव को देशनालब्धि अवश्य होती है और वह देशनालब्धि, सम्यक्त्वरूप परिणमित साक्षात ज्ञानी के निमित्त से ही प्राप्त होती है। अकेले शास्त्र से या किसी मिथ्यादृष्टि के निमित्त से देशनालब्धि प्राप्त नहीं होती। जो स्वयं मिथ्यादृष्टि है - ऐसे जीव को अपनी देशनालब्धि के निमित्तरूप से स्वीकार करनेवाले जीव में तो सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की पात्रता भी नहीं होती। सम्यक्त्व की पात्रतावाला जीव, सामने भी सम्यग्दृष्टि के भाव को पहचानकर उसे अपना अन्तरङ्ग निमित्त बनाता है। इस सम्बन्ध में आचार्य कुन्दकुन्ददेव द्वारा रचित नियमसार परमागम की 53 गाथा में विशेष स्पष्टीकरण किया गया है। मूल गाथा इस प्रकार है —

सम्मत्तस्स णिमित्तं जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा।
अन्तरहेऊ भणिदा दंसणमोहस्स खयपहुदी॥

जिनसूत्र समकितहेतु है, अरु सूत्रज्ञाता पुरुष भी।
वह जान अन्तर्हेतु जिसके दर्शमोह क्षयादि हो॥

अर्थात् सम्यक्त्व का निमित्त जिनसूत्र है; जिनसूत्र के जाननेवाले पुरुषों को (सम्यक्त्व के) अन्तरङ्ग हेतु कहे हैं, क्योंकि उनको दर्शनमोह के क्षयादिक हैं।

निज शुद्ध कारणपरमात्मा की श्रद्धा करके सम्यग्दर्शन प्रगट करनेवाले जीव को निमित्त कैसे होते हैं? वह यहाँ बताते हैं।

www.vitragvani.com

सम्यग्दर्शन तो अपने आत्मस्वभाव के आश्रय से ही होता है; कहीं निमित्त के आश्रय से सम्यग्दर्शन नहीं होता परन्तु ज्ञान का स्व-पर प्रकाशक स्वभाव है, इसलिए सम्यग्दर्शन में ऐसे निमित्त होते हैं, वह भी जानना चाहिए।

निज कारणपरमात्मा के सन्मुख होकर अपूर्व सम्यक्त्व प्रगट करनेवाले जीव को शुद्ध कारणपरमात्मा का स्वरूप बतलानेवाले जिनसूत्र, वह बाह्य निमित्त है और उन जिनसूत्र का आशय समझनेवाले ज्ञानी पुरुष के बिना अकेला जिनसूत्र, सम्यक्त्व का निमित्त नहीं होता - ऐसा बतलाने के लिए यह बात भी साथ ही साथ की है कि जिनसूत्र के ज्ञाता ज्ञानी पुरुष, सम्यक्त्व का अन्तरङ्ग निमित्त है। निमित्तरूप से शास्त्र की अपेक्षा ज्ञानी की मुख्यता बतलाने के लिए शास्त्र को बाह्य निमित्त कहा है और ज्ञानी को अन्तरङ्ग निमित्त कहा है। अन्तरङ्ग निमित्त भी अपने से पर है, इसलिए वह उपचार है।

वीतराग की वाणी, शुद्ध कारणपरमात्मा को उपादेय बतलानेवाली है, वह जिनसूत्र है। वह जिनसूत्र सम्यग्दर्शन का बहिरङ्ग निमित्त है। जो स्वयं अन्तर्मुख होकर शुद्ध कारणपरमात्मा को उपादेयरूप से अङ्गीकार करता है, उसे वह वाणी बाह्य निमित्त है। देखो, जिनसूत्र कैसा होता है ? यह बात भी इसमें आ गयी है कि अपने शुद्ध आत्मा को ही जो उपादेय बतलाता हो, अपने शुद्ध कारणपरमात्मा के आश्रय से ही जो लाभ कहता हो, वही जिनसूत्र है और ऐसा जिनसूत्र ही सम्यक्त्व में बाह्य निमित्त है। इसके अतिरिक्त जो शास्त्र पराश्रय भाव से लाभ होना कहता हो, वह

www.vitragvani.com

वास्तव में जिनसूत्र नहीं है और वह सम्यक्त्व में निमित्त भी नहीं है। शास्त्रों का तात्पर्य तो वीतरागता है और वह वीतरागता अन्तर के शुद्ध आत्मा के अवलम्बन से प्रगट होती है। इसलिए ऐसे शुद्ध आत्मा का अवलम्बन करना बतलानेवाली जिनवाणी ही सम्यक्त्व में निमित्त है।

सम्यग्दर्शन, अन्तरस्वभाव के अवलम्बन से ही प्रगट होता है और जिनसूत्र भी उस स्वभाव का ही अवलम्बन करना बतलाता है; इसलिए सम्यग्दर्शन का बाह्य निमित्त जिनसूत्र है और उस जिनसूत्र द्वारा कथित शुद्ध कारणपरमात्मा का स्वरूप जाननेवाले अन्य मुमुक्षु उस सम्यक्त्व के अन्तरङ्ग हेतु हैं। जिनसूत्र जैसा शुद्ध आत्मा कहना चाहता है, वैसे शुद्ध आत्मा को जो जाने, उन्होंने वास्तव में जिनसूत्र को जाना कहलाता है। मात्र शास्त्र के शब्द को जाने परन्तु उसमें कथित शुद्ध आत्मा को न जाने तो उस जीव ने वास्तव में जिनसूत्र को नहीं जाना है। इस प्रकार जिनसूत्र के ज्ञाता सम्यग्दृष्टि जीव ही दूसरे जीव को सम्यक्त्वपरिणाम के अन्तरङ्ग हेतु हैं और वहाँ जिनसूत्र, वह बहिरङ्ग हेतु है।

यहाँ निमित्त में अन्तरङ्ग और बाह्य ऐसे दो प्रकार डालकर समझाया है। अपूर्व सम्यग्दर्शन प्रगट करनेवाले जीव को अकेले शास्त्र के शब्द ही निमित्त नहीं होते परन्तु उस शास्त्र का आशय बतलानेवाले सम्यग्दृष्टि जीव भी निमित्तभूत होते ही हैं – ऐसा यहाँ बतलाया है। यद्यपि अन्य सम्यग्दृष्टि पुरुष भी वास्तव में तो अपने से बाह्य हैं परन्तु उस जीव का अन्तरङ्ग अभिप्राय पकड़ना, वह अपने को सम्यग्दर्शन का कारण है; इसलिए उपचार से उस

www.vitragvani.com

जीव को भी सम्यग्दर्शन का अन्तरङ्ग हेतु कहा है। शास्त्र के शब्द तो अचेतन हैं और यह सम्यग्दृष्टि जीव तो स्वयं सम्यक्त्व परिणाम से परिणमित है; इसलिए शास्त्र की अपेक्षा इस निमित्त की विशेषता बतलाने के लिए 'अन्तरङ्ग' शब्द प्रयोग किया है। उसके बिना अकेले पुस्तक के निमित्त से कोई जीव अपूर्व सम्यक्त्व प्राप्त कर ले – ऐसा नहीं होता। यह देशनालब्धि का अवाधित नियम है।

यहाँ तो जो जीव सम्यग्दर्शन प्रगट करता है, वैसे जीव को कैसा निमित्त होता है ? यह पहचान करायी है। अज्ञानी को पूर्व में अनन्त बार जो देशनालब्धि प्राप्त हुई, उस देशनालब्धि की यहाँ बात नहीं है, क्योंकि उपादान के बिना निमित्त किसका ?

सत् समझनेवाले जीव को सामने सत्रूप से परिणमित सम्यग्दृष्टि ही निमित्त होता है। अज्ञानी की वाणी सम्यग्दर्शन का निमित्त नहीं होती क्योंकि वह जीव स्वयं सम्यक्त्वरूप परिणमित नहीं हुआ है। ज्ञानी को तो स्वयं को दर्शनमोह के क्षयादिक हुए हैं; इसलिए वह सामनेवाले जीव को सम्यक्त्वपरिणाम में निमित्त हो सकता है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन परिणाम में बाह्य निमित्त वीतराग की वाणी और अन्तरङ्ग निमित्त, जिन्हें दर्शनमोह का अभाव हुआ है – ऐसे जिनसूत्र के ज्ञाता पुरुष हैं।

ज्ञान का स्वभाव, स्व-पर प्रकाशक है। परमशुद्ध आत्मतत्त्व की श्रद्धा और ज्ञान होने पर जहाँ स्व-पर प्रकाशक ज्ञानसामर्थ्य खिला, वह ज्ञान ऐसा जानता है कि जीव के सम्यक्त्व परिणमन में सामने निमित्तरूप भी सम्यग्दृष्टि ही होता है। यद्यपि सम्यक्त्व परिणाम प्रगट करनेवाले जीव को तो जिनसूत्र तथा ज्ञानी ये दोनों

www.vitragvani.com

निमित्त स्वयं से बाह्य ही है, तथापि निमित्तरूप से उनमें बाह्य और अन्तरङ्ग ऐसे दो भेद हैं। ज्ञानी का आत्मा अन्तरङ्ग निमित्त है और ज्ञानी की वाणी, वह बाह्य निमित्त है। एक बार साक्षात् चैतन्यमूर्ति ज्ञानी मिले बिना शास्त्र के कथन का आशय क्या है? – यह समझ में नहीं आता। शास्त्र स्वयं कहीं अपने आशय को नहीं समझाता, इसलिए वह बाह्य निमित्त है। शास्त्र का आशय तो ज्ञानी के ज्ञान में है। जो सम्यग्दृष्टि हैं, उन्हें अन्तरङ्ग में दर्शनमोह का क्षय इत्यादि है, इसलिए वे ही अन्तरङ्ग निमित्त है।

जिस पात्र जीव में स्वभाव का अवलम्बन लेने की योग्यता हुई है... शुद्ध कारणपरमात्मा का अवलम्बन लेकर सम्यक्त्व प्रगट करने की तैयारी हुई है... वैसे जीव के सामने अन्तरङ्ग निमित्तरूप भी, जिसे दर्शनमोह के क्षयादिक हुए हों, वैसे जिनसूत्र के ज्ञायक पुरुष ही होते हैं और बाह्य निमित्तरूप में जिनसूत्र होता है। इसमें देशनालब्धि का यह नियम आ जाता है कि प्रथम ज्ञानी पुरुष की देशना ही निमित्तरूप से होती है; अकेला शास्त्र या चाहे जिस पुरुष की वाणी देशनालब्धि में निमित्त नहीं होती; देशनालब्धि के लिए एक बार तो चैतन्यमूर्ति ज्ञानी साक्षात् मिलना चाहिए।

यह नियमसार शास्त्र बहुत अलौकिक है और इसकी टीका में भी बहुत अद्भुत भाव स्पष्ट किये गये हैं। इन शुद्धभाव अधिकार की अन्तिम पाँच गाथाओं में रत्नत्रय का स्वरूप बताया है। अपना स्वभाव अनन्त चैतन्यशक्ति सम्पन्न भगवान कारणपरमात्मा है। उसके आश्रय से जो सम्यग्दर्शनादि शुद्धभाव प्रगट होते हैं, वह मुक्ति का कारण है।

www.vitragvani.com

अन्तरङ्ग शुद्ध कारणतत्त्व – ऐसा निज आत्मा ही मुझे उपादेय है – ऐसी निर्विकल्प श्रद्धा, वह निश्चयसम्यक्त्व है। उस सम्यक्त्वपरिणाम का बाह्य सहकारी कारण जिनसूत्र है। वीतराग सर्वज्ञदेव के मुख कमल में से निकली हुई और समस्त पदार्थों का स्वरूप कहने में समर्थ – ऐसी वाणी, वह सम्यक्त्वपरिणाम का बाह्य निमित्त है परन्तु वह वाणी किसके पास से सुनी होनी चाहिए? ज्ञानी के पास से ही वह वाणी सुनी हुई होनी चाहिए। यह बतलाने के लिए यहाँ अन्तरङ्ग निमित्त की बात विशेषरूप से रखी है कि जो मुमुक्षु हैं – ऐसे धर्मी जीव भी उपचार से पदार्थ निर्णय के हेतु होने के कारण सम्यक्त्व के अन्तरङ्ग निमित्त हैं क्योंकि उन्हें दर्शनमोह के क्षयादिक हैं। शास्त्र की अपेक्षा से भी धर्मी जीव का आत्मा मुख्य निमित्त है, यह बतलाने के लिए यहाँ उन्हें अन्तरङ्ग हेतु कहा है। सम्यग्दर्शन में धर्मी जीव की वाणी बाह्य निमित्तकारण है और सम्यग्दर्शनादिरूप से परिणमित उनका आत्मा, वह अन्तरङ्ग निमित्तकारण है।

शुद्ध आत्मस्वभाव की रुचि से अपूर्व सम्यग्दर्शन प्रगट करनेवाले जीव को अकेली वीतराग की वाणी ही निमित्त नहीं होती परन्तु सम्यग्दर्शन –ज्ञानादिरूप से परिणमित हुए धर्मी जीव भी निमित्तरूप से होते ही हैं; इसलिए निमित्तरूप से वे अन्तरङ्ग हेतु हैं परन्तु इस आत्मा की अपेक्षा से तो वे भी बाह्य कारण ही हैं। वाणी की तुलना में आत्मा पर अधिक वजन देने के लिए ही उन्हें अन्तरङ्ग हेतु कहा है। सम्यक्त्व का वास्तविक, अर्थात् परमार्थ अन्तरङ्ग कारण तो अपना शुद्ध कारणपरमात्मा ही है। उसकी

www.vitragvani.com

अपेक्षा से तो ज्ञानी तथा वाणी, ये दोनों बाह्य हेतु हैं। सम्यक्त्व के परमार्थ कारण का तो पूर्व में (इस शुद्धभाव अधिकार में) बहुत वर्णन किया है। अभी इस गाथा में तो उसके निमित्त की बात चलती है। निमित्त में अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग ऐसे दो प्रकार कहकर, यहाँ ज्ञानी के आत्मा को मुख्य हेतुरूप से बतलाया है।

यहाँ अन्तरङ्ग हेतुरूप से मुमुक्षु लिया है क्योंकि अभी कहनेवाले के रूप में साक्षात् केवली भगवान यहाँ नहीं हैं। वीतराग की वाणी अभी तो मुमुक्षु अर्थात् चौथे, पाँचवें, छठवें गुणस्थान में वर्तते धर्मात्माओं से मिलती है; इसलिए उपचार से उन मुमुक्षुओं को अन्तरङ्ग हेतु कहा है। उन मुमुक्षुओं को स्वयं अन्तर में दर्शनमोह के क्षय इत्यादि वर्तते हैं, इसलिए वे सम्यक्त्व के अन्तरङ्ग हेतु हैं। जिसे दर्शनमोह का अभाव न हुआ हो – ऐसा मिथ्यादृष्टि जीव, सम्यक्त्व का निमित्त भी नहीं होता।

सामनेवाले ज्ञानी भी इस आत्मा से बाह्य हैं, इसलिए वे उपचार से हेतु हैं और वाणी की अपेक्षा उनकी आत्मा का अभिप्राय, वह मुख्य निमित्त है – ऐसा बतलाने के लिए, उन्हें उपचार से अन्तरङ्ग हेतु कहा है। धर्मी जीव का अन्तरङ्ग अभिप्राय क्या है? यह समझकर स्वयं अपने में वैसा अभिप्राय प्रगट करके सम्यग्दर्शन प्राप्त करे, उसमें ज्ञानी अन्तरङ्ग निमित्तकारण हैं और वाणी बाह्य कारण है, यह दोनों कारण व्यवहार से है। निश्चयकारण तो अपना शुद्ध कारणपरमात्मा ही है। उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन प्रगट करे, तब निमित्त कैसा होता है? वह यहाँ बतलाया है।

कोई जीव, सम्यक्त्व में मात्र बाह्य निमित्त को, अर्थात् शास्त्र

www.vitragvani.com

को ही स्वीकार करे और अन्तरङ्ग निमित्तरूप से ज्ञानी को स्वीकार न करे तो उसने वास्तव में सम्यक्त्व को जाना ही नहीं है। सम्यक्त्वरूप से परिणमित होकर जिन्होंने दर्शनमोह के क्षयादिक किये हैं – ऐसे सम्यग्दृष्टि को ही सम्यक्त्व के निमित्तरूप से न स्वीकार करके, जो जीव अकेले शास्त्र से अथवा किसी भी मिथ्यादृष्टि के निमित्त से भी सम्यग्दर्शन हो जाना मानता है, उसे तो सम्यक्त्व के सच्चे निमित्त का भी भान नहीं है। इस प्रकार इस गाथा में सम्यक्त्व के अन्तरङ्ग तथा बाह्य दोनों निमित्तों का स्वरूप बतलाया है।

जयवन्त वर्तो... वह परम कल्याणकारी सम्यक्त्व और उसके अन्तर्बाह्य निमित्त!

एक ज्ञायकभाव ही आश्रय करने योग्य है।

अहा! अनाकुल शान्तरस का पिण्ड प्रभु आत्मा शुद्ध ज्ञायक तत्त्व है, जबकि अन्तरङ्ग में; अर्थात्, पर्याय में उत्पन्न होनेवाले पुण्य-पाप के भाव, शुभाशुभभाव आस्रवभाव हैं। वे आस्रवभाव एक ज्ञायकभाव से विरुद्ध और दुःखरूप होने से नाश करने योग्य हैं और एक ज्ञायकभाव ही आश्रय करने योग्य है। क्यों? इसलिए कि ज्ञायकस्वभाव का आश्रय करने से आस्रव के अभावरूप संवर, निर्जरा और मोक्ष प्रगट होते हैं। इसलिए कहा कि अपने शुद्ध ज्ञायकस्वभाव का आश्रय कर, उसमें ही स्थिर हो, उससे ही प्राप्त कर!

(पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी)

www.vitragvani.com

विरला

विरलाः निश्रृण्वन्ति तत्त्वं विरलाः जानन्ति तत्त्वतः तत्त्वं।
विरलाः भावयन्ति तत्त्वं विरलानां धारणा भवति॥२७९॥

तत्त्वं कथ्यमानं निश्चलभावेन गृह्णाति यः हि।
तत् एव भावयति सदा अपि च तत्त्वं विजानाति॥२८०॥

जगत में तत्त्व को विरले पुरुष ही सुनते हैं; सुनकर भी तत्त्व को यथार्थरूप से विरले ही जानते हैं; और जानकर भी विरले ही तत्त्व की भावना अर्थात् बारम्बार अभ्यास करते हैं और अभ्यास करके भी तत्त्व की धारणा तो विरलों को ही होती है।

भावार्थ—तत्त्व का यथार्थस्वरूप सुनना-जानना-भाना और धारण करना, उत्तरोत्तर दुर्लभ है। इस पंचम काल में तत्त्व को यथार्थ कहनेवाले दुर्लभ हैं और धारण करनेवाले भी दुर्लभ हैं।

जो पुरुष, गुरुओं के द्वारा कहे गये जिस तत्त्व का स्वरूप उसे निश्चलभाव से ग्रहण करते हैं तथा अन्य भावना छोड़कर उसे ही निरन्तर भाते हैं, वे पुरुष, तत्त्व को जानते हैं।

स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा

विरला जाने तत्त्व को और सुनते कोई।
विरला ध्यावे तत्त्व को विरला धारे कोई॥

योगसार, ६६

www.vitragvani.com

परमात्मा का प्रतिबिम्ब

भगवान की परम शान्त वीतरागी प्रतिमा के समक्ष समकिती एकावतारी इन्द्र-इन्द्राणी भी भक्ति से नाच उठते हैं। नन्दीश्वर नामक आठवें द्वीप में रत्न के शाश्वत् जिनबिम्ब हैं, वहाँ कार्तिक, फाल्गुन और आषाढ़ महीने में शुक्ल (पक्ष की) अष्टमी से पूर्णिमा तक देव, भक्ति करने जाते हैं। जिस प्रकार आत्मा में परमात्मपने की शक्ति सदैव है और वह शक्ति-प्रगट सर्वज्ञ परमात्मा भी जगत में सदा एक के बाद एक हुआ ही करते हैं, अर्थात् परमात्मदशा को प्राप्त आत्माएँ अनादि से हैं; इसी प्रकार उस परमात्मदशा के प्रतिबिम्बरूप से जिनप्रतिमा भी अनादि से शाश्वत् है। उनके समक्ष जाकर इन्द्र-इन्द्राणी जैसे एकावतारी जीव भी भक्ति से उल्लास करते हुए नाच उठते हैं।

उस समय उन्हें अन्दर भान है कि इस मूर्ति का अस्तित्व इसके द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में है, शरीर की ऊँची-नीची होने की क्रिया का अस्तित्व उसके द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में है। मूर्ति में या देह की क्रिया में मेरा अस्तित्व नहीं है; मेरा अस्तित्व मेरे द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में है - ऐसे सम्यक् भान में स्वाश्रय से अपना स्वकाल अंश तो निर्मल हुआ है और अल्प काल में द्रव्य की परमात्मशक्ति का पूरा आश्रय करने पर पूर्ण निर्मल स्वकाल प्रगट हो जायेगा, अर्थात् स्वयं परमानन्दमय परमात्मा हो जायेगा।

(-पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन में से)

www.vitragvani.com

जिससे अवतार की सफलता हो - ऐसा

सच्चा इनाम

धर्म से, अर्थात् आत्मा की सच्ची समझ से ही मनुष्य अवतार की सफलता है। धर्म का माहात्म्य समझने के लिये उसका ज्ञान करना चाहिए। इस जीव को संसार में पशु, कौवा इत्यादि की देह तो अनन्त बार मिलती है परन्तु मनुष्य देह मूल्यवान है। उस मनुष्य देह में भी यदि आत्मा की समझ न करे तो उसकी कोई कीमत नहीं है। विषयभोग में तो कौवा, कुत्ता भी जीवन व्यतीत करता है। मनुष्य होकर भी धर्म न समझे और कमाने में तथा भोग में ही जीवन गँवावे तो पशु की अपेक्षा भी उसकी क्या विशेषता हुई? इस शरीर की तो राख होनेवाली है; आत्मा इससे पृथक् है — ऐसे आत्मा को स्वयं भूलकर जीव, परिभ्रमण करता है और स्वयं को पहचाने तो मुक्ति प्राप्त करता है परन्तु कोई दूसरे की अकृपा से भटकता नहीं या दूसरे की कृपा से तिरता नहीं है।

जिस प्रकार सरोवर में रहनेवाला हंस, कमल के प्रति प्रीति छोड़कर हंसिनी पर प्रीति करता है; उसी प्रकार शरीररूपी सरोवर में रहनेवाला जो चैतन्य हंस, शरीर आदि की प्रीति छोड़कर अपने आत्मा की प्रीति करता है, वह इस जगत् में धन्य है! सरोवर में कमल खिले हुए होने पर भी, हंस अपनी हंसिनी के प्रति प्रीति छोड़कर उन पर प्रीति नहीं करता; इसी प्रकार यह चैतन्यरूप हंस है और इसे पैसा, मकान इत्यादि बाहर की चीजें हैं, वे पूर्व के प्रारब्ध का फल है, उनकी प्रीति छोड़कर अपने आत्मा की प्रीति करे तो निर्मल आनन्दपरिणति प्रगट हो, वह आत्मा की हंसनी है।

www.vitragvani.com

अरे भाई! दो घड़ी-चार घड़ी तू तेरे आत्मा का विचार तो कर! तुझे तेरी कीमत नहीं और तू दूसरे की कीमत करता है! यह तुझे शोभा नहीं देता। बाहर की चीजें तेरी नहीं है, वे तेरे साथ नहीं आती; इसलिए उनसे भिन्न आत्मा है, उसकी प्रीति कर। धर्मी जीव को आत्मा की प्रीति और ज्ञान करते-करते बीच में अणिमा -महिमा इत्यादि ऋद्धि सहज प्रगट होती है परन्तु वे उनकी प्रीति छोड़कर आत्मा की प्रीति करते हैं। शरीर का रूप, मेरु जितना विशाल कर डाले और कंथवा जितना छोटा भी कर सके, एक लड्डू में करोड़ों लोगों को जिमावे, शरीर का वजन करोड़ों मन कर सके, ऊपर से देव को उतारना हो तो उतारे - ऐसी सिद्धियाँ, धर्मात्मा को प्रगट हुई हों परन्तु उनकी प्रीति तो संसार में भटकने का कारण है। धर्मी जीव उनकी प्रीति नहीं करते परन्तु आत्मा की प्रीति करते हैं। मूर्ख ब्राह्मण की तरह वे चैतन्य चिन्तामणि को बाह्य विषयों में फेंक नहीं देते।

एक था ब्राह्मण। एक बार जंगल में उसके हाथ में चिन्तामणि आ पड़ा। वहाँ—जिस-तिस वस्तु को वह चिन्तन करने लगा - खाने का, मकान, पलंग इत्यादि माँगने ही लगा, वह उसे मिल गया। वहाँ एक कौआ आया, उसे उड़ाने के लिये उस मूर्ख ने चिन्तामणि को फेंका, बस समाप्त! तुरन्त ही मकान, पलंग इत्यादि सब बिखर गया और जैसा था, वैसा हो गया; इसी प्रकार यह मनुष्य देह अनन्त काल में जीव को मिली है, यह चिन्तामणि जैसी है। जो इसे कमाने में और भोग में ही गँवा देता है किन्तु आत्मा की समझ नहीं करता, वह परमार्थ मूर्ख है।

अरे जीव! ऐसा मनुष्य अवतार प्राप्त करके तू अन्यत्र सब

www.vitragvani.com

जगह चतुराई बतलाता है, परन्तु आत्मा की समझ तो नहीं करता और धर्म की परीक्षा भी नहीं करता तो तेरी चतुराई किस काम की? थोड़ा समय रहा है, भाई! अब तू आत्मा की समझ कर, निवृत्ति ले, प्रवृत्ति घटा। 'अहो! मेरी मुक्ति कैसे हो? मुझे अब जन्म-मरण नहीं चाहिए' - ऐसा जिसे अन्तर में भव-भ्रमण का त्रास लगा हो, उसे आत्मा की समझ करना चाहिए। हे जीव! तूने अनन्त काल में सब परखा है परन्तु आत्मा को नहीं पहचाना।

परखे माणिक मोतियां परखे हेम कपूर;
किन्तु आत्म परखा नहीं, वहाँ रहा दिक्मूढ़॥

एक था झवेरी; वह बहुत वृद्ध हो गया था। हीरा की परीक्षा करने में वह बहुत होशियार था। एक बार राजा के पास बहुत कीमती हीरा आया और सबसे उसकी कीमत करायी। अन्त में उस झवेरी से कीमत करायी। उसकी कला से राजा प्रसन्न हुआ और उसे इनाम देने का निर्णय किया।

उस राजा का दीवान धर्मात्मा था। सायंकाल उसने झवेरी को बुलाकर पूछा — भाई! तुम हीरा परखना तो जानते हो, परन्तु चैतन्य रत्न आत्मा को परखा है? जिन्दगी में कुछ धर्म की समझ की है? झवेरी को धर्म का कुछ पता नहीं था; इसलिए उसने इनकार किया।

दूसरे दिन सबेरे राजा ने झवेरी को बुलवाया और धर्मी दीवान से पूछा—दीवान जी! बोलो, इस झवेरी को क्या इनाम देंगे? दीवान ने गम्भीरता से कहा—महाराजा! इसे सात जूते मारने का इनाम देना चाहिए। राजा को आश्चर्य हुआ, इसलिए फिर से पूछा—अरे दीवानजी! सात जूते मारने का इनाम होता है? कुछ

www.vitragvani.com

रुपये इत्यादि देना चाहिए न ? तब दीवान ने कहा—इसे सात नहीं किन्तु चौदह जूते मारना चाहिए। राजा ने कहा—ऐसा क्यों ? दीवान बोला—महाराज ! इसे अस्सी वर्ष हुए और लड़के के घर लड़का हुआ तो भी अभी धर्म समझने की दरकार नहीं करता। यहाँ से मरकर कहाँ जायेगा ? इसकी इसे दरकार नहीं है। इसने हीरा परखने में जीवन व्यतीत किया परन्तु आत्मा को परखने की दरकार नहीं की; जीवन पूरा होने आया तो भी धर्म की पहचान नहीं करता, इसलिए इसे जूते मारना चाहिए।

झवेरी का आत्मा पात्र था; इसलिए धर्मात्मा दीवान की बात सुनकर वह बहुत प्रसन्न हुआ और उसने राजा से कहा—महाराज ! मुझे आपके रुपयों का इनाम नहीं चाहिए। दीवानजी ने जो कहा, वह योग्य है; उन्होंने शिक्षा देकर मुझ पर उपकार किया है, वही मेरा वास्तविक इनाम है। जो आत्मवेत्ता हो, या आत्मवेत्ता की भक्ति करके आत्मवेत्ता होने का आकाँक्षी हो, उसी का जीवन कृतार्थ है; अन्य जीवों का अवतार तो जूते मारने जैसा है। इस प्रकार समझकर झवेरी आत्मा की समझ करने लगा और उसने अपने अवतार की सफलता की।

चैतन्यस्वभाव के अतिरिक्त बाहर में कहीं सुख नहीं है। यदि संसार में सुख होवे तो धर्मात्मा उसे किसलिए छोड़े ? यदि पर में सुख होवे तो धर्मात्मा उसे छोड़कर आत्मा का ध्यान क्यों करे ? इसलिए कल्पनातीत और इन्द्रियातीत आत्मा में ही सुख है, उसके सुख की प्रतीति कर और पर की ममता छोड़। जो आत्मा को समझे और उसकी प्रीति करे — ऐसे चैतन्य हंस को हम नमस्कार करते हैं। उसके अवतार की सफलता है।

www.vitragvani.com

शुद्धात्म-प्राप्ति की दुर्लभता

अनन्त काल से संसार में परिभ्रमण करते हुए जीवों को शुद्ध आत्मा की समझ दुर्लभ है, यह बताते हुए श्री कुन्दकुन्द आचार्यदेव समयसार की चौथी गाथा में कहते हैं कि —

(1) काम-भोग-बन्धन की कथा को समस्त जीवों को सुनने में आ गयी है परन्तु....,

(2) भिन्न आत्मा के एकत्व की बात जीव ने कभी सुनी ही नहीं है।

देखो! इस कथन से निम्न न्याय निकलते हैं :-

(1) निगोद में ऐसे अनन्त जीव हैं कि जिन्होंने कभी मनुष्यभव धारण ही नहीं किया है, जो कभी निगोद में से निकले ही नहीं हैं; जिन्हें कभी श्रवणेन्द्रिय प्राप्त ही नहीं हुई है, तो उन्होंने काम-भोग-बन्ध की कथा किस प्रकार सुनी ?

समाधान यह है कि उन जीवों ने शब्द भले ही नहीं सुने हों परन्तु काम-भोग की कथा के श्रवण का जो कार्य है, उसे तो वे कर ही रहे हैं। शब्द न सुनने पर भी उसके भाव अनुसार विपरीत प्रवर्तन तो वे कर ही रहे हैं। काम-भोग की कथा सुननेवाले अज्ञानी जीव जिस विकार का अनुभव कर रहे हैं और कह रहे हैं, वैसा वे निगोद के जीव, कथा सुने बिना ही कर रहे हैं; इसलिए उन्होंने भी काम-भोग-बन्धन की कथा सुनी है - ऐसा आचार्यदेव ने कहा है।

एक तो शुद्धात्मा के भान बिना अनन्त बार नौवें ग्रैवेयक के

www.vitragvani.com

भव करनेवाला जीव और दूसरा नित्य निगोद का जीव है – यह दोनों एक ही जाति के हैं, दोनों अशुद्ध आत्मा का ही अनुभव कर रहे हैं। निगोद के जीव को श्रवण का निमित्त प्राप्त नहीं हुआ और नौवें ग्रैवेयक जानेवाले जीव को निमित्त प्राप्त होने पर भी उसका उपादान नहीं सुधरा; इसलिए उसने शुद्धात्मा की बात सुनी – ऐसा यहाँ अध्यात्मशास्त्र में नहीं गिना जाता। काम-भोग की कथा तो निमित्तमात्र है, उसे सुनने का फल क्या है ? विकार का अनुभव। उस विकार का अनुभव तो निगोद का जीव कर ही रहा है; इसलिए उस जीव ने काम-भोग की कथा सुनी है।

2. अज्ञानी जीव ने अनन्त बार तीर्थङ्कर भगवान के समवसरण में जाकर उनकी दिव्यध्वनि में शुद्धात्मा की बात सुनी है, फिर भी आचार्य भगवान कहते हैं कि आत्मा के शुद्धस्वभाव की वार्ता उन जीवों ने कभी नहीं सुनी है, क्योंकि अन्तर की रुचि से उसका परिणमन नहीं किया है; शुद्धात्मा का अनुभव नहीं किया है, इसलिए वस्तुतः उसने शुद्धात्मा की बात सुनी ही नहीं है।

शुद्धात्मा का श्रवण किया तो तब कहलाता है कि जब उसका आशय समझकर तदनुसार परिणमित हो अर्थात् भावपूर्वक के श्रवण को भी यहाँ सुनने में गिना गया है। निमित्त के साथ उपादान का मेल होने पर ही उसे निमित्त कहते हैं। अनादि से काम-भोग- बन्धन की कथा के निमित्त के साथ जीव के उपादान का मेल हुआ है परन्तु शुद्ध ज्ञायक एकत्व-विभक्त आत्मस्वरूप को बतलानेवाले निमित्त के साथ उसके उपादान का मेल नहीं हुआ है; इसलिए उसने शुद्ध आत्मा की बात सुनी ही नहीं है। यहाँ तो उपादान-निमित्त की सन्धिपूर्वक कथन है। निमित्तरूप से

www.vitragvani.com

ऐसे अपूर्व श्रवण को स्वीकार किया है कि जिसका श्रवण किया, उसकी रुचि और अनुभव भी करे ही।

कोई जीव भले ही भगवान की सभा में दिव्यध्वनि सुनता हो परन्तु यदि अन्तर में व्यवहार के पक्ष का आशय रखे तो उसने वास्तव में शुद्धात्मा का ग्रहण नहीं किया है, उसके लिये तो वह विकथा का ही श्रवण है। मात्र आत्मा के शब्द कान में पड़ना, वह कहीं शुद्धात्मा का श्रवण नहीं है परन्तु श्रवण, परिचय और अनुभव - इन तीनों की एकता अर्थात् जैसा शुद्धात्मा सुना है, वैसा ही परिचय में-रुचि में लेकर उसका अनुभव करे, इसी का नाम शुद्धात्मा का श्रवण है। जीव ने पूर्व में ऐसा श्रवण कभी नहीं किया है; इसलिए अब तू शुद्धात्मा की रुचि के अपूर्वभाव से इस समयसार का श्रवण करना - ऐसा आचार्यदेव कहते हैं।

धर्मकथा अथवा विकथा, मात्र शब्दों में नहीं है, अपितु भाव पर उसका आधार है। जहाँ युद्ध अथवा शरीर के रूप इत्यादि का वर्णन आवे, वहाँ उसे सुननेवाला यदि अपने में वैराग्यभाव का पोषण करता हो तो उसके लिए वह वैराग्यकथा है और उन्हीं शब्दों को सुनकर जो जीव अपने विषय-कषाय के भावों का पोषण करता हो, उसके लिए वह विकथा है। इसी प्रकार यहाँ जो जीव, शुद्धात्मा की रुचि करे, उसी ने शुद्धात्मा की बात सुनी - ऐसा कहा जाता है। शुद्धात्मा के शब्द कान में पड़ने पर भी यदि विकार की रुचि का परित्याग नहीं करे तो उसने शुद्धात्मा की बात सुनी ही नहीं है। तात्पर्य यह है कि निमित्त पर कुछ भी वजन नहीं रहा, अपितु अपने उपादान में रुचि के भाव पर ही वजन आया।

जैसे, कोई पिता अपने पुत्र से कहे कि जा, बाजार से शक्कर

www.vitragvani.com

ले आ! यदि उसका पुत्र, शक्कर के बदले अफीम ले आवे तो उसने अपने पिता की बात सुनी नहीं कहा जाता। इसी प्रकार सर्वज्ञ भगवान और सन्त, शुद्धात्मा का स्वरूप बतलाकर, उसका अनुभव करने के लिये कहते हैं। जो जीव, शुद्धात्मा का तो अनुभव नहीं करता और विकार की रुचि करके उसका ही अनुभव करता है तो उस जीव ने वास्तव में शुद्धात्मा की बात सुनी ही नहीं है।

भगवान की दिव्यध्वनि में तो एक साथ निश्चय-व्यवहार इत्यादि सब वर्णन आता है। उसे सुनते ही 'व्यवहार है न! राग है न! निमित्त है न!' इस प्रकार जो जीव, व्यवहार पर वजन देता है किन्तु 'आत्मा का स्वभाव शुद्ध ज्ञायक है' - इस प्रकार शुद्धात्मा के अस्तित्व पर वजन नहीं देता अर्थात् अपनी रुचि को शुद्धात्मा की ओर नहीं लगाता, उस जीव ने भगवान की वाणी नहीं सुनी, क्योंकि भगवान की वाणी सुनने से पूर्व उसका जो भाव था, वैसे ही भाव का भगवान की वाणी सुनने के बाद भी वह सेवन कर रहा है।

जितने जीव, शुद्ध आत्मा की रुचि की ओर नहीं ढलकर, अशुद्ध आत्मा की अर्थात् व्यवहार की, राग की, निमित्त की, पराश्रय की रुचि करते हैं, उन सभी जीवों ने काम-भोग-बन्धन की कथा ही सुनी है किन्तु शुद्धात्मा की बात नहीं सुनी है। जैसा कार्य ये जीव कर रहे हैं, वैसा ही कार्य नित्य-निगोद के जीव भी कर ही रहे हैं। अनादि से वाणी नहीं सुनी थी, तब जो दशा थी, उसमें वाणी सुनने के बाद कुछ अन्तर नहीं पड़ा और वैसी ही दशा रही तो उसने आत्मस्वभाव की बात सुनी है - ऐसा ज्ञानी स्वीकार नहीं करते हैं।

www.vitragvani.com

यदि एक बार भी आत्मा के शुद्धस्वभाव की बात प्रीतिपूर्वक सुनें तो अल्प काल में ही उसकी मुक्ति हुए बिना नहीं रहे।

जीव ने कभी सच्चे निमित्त के समक्ष अपने एकत्वस्वभाव का श्रवण ही नहीं किया है, सच्चे लक्ष्यपूर्वक उसका परिचय नहीं किया है और विकल्प तोड़कर अनुभव नहीं किया है। यहाँ तो ऐसे ही श्रवण को 'श्रवण' के रूप में लिया गया है कि जिस श्रवण के फल में यथार्थ आत्मस्वरूप का परिचय और अनुभव हो; परिचय और अनुभव बिना श्रवण, वह वास्तविक श्रवण नहीं है।

समयसार सुननेवाला शिष्य भी ऐसा सुपात्र है कि समयसार में बतलाये गये आत्मा का एकत्वस्वरूप सुनने में उसे उत्साह आता है और उसमें अपूर्वता भासित होती है। वर्तमान में जिस भाव से मैं श्रवण करता हूँ – ऐसे भाव से मैंने पूर्व में कभी सुना ही नहीं। इस प्रकार वह अपने भाव में अपूर्वता लाकर सुनता है; इसलिए निमित्त में भी अपूर्वता का आरोप आता है। पूर्व में शुद्धात्मा का श्रवण-परिचय और अनुभव नहीं किया था परन्तु अब अपूर्व रुचि प्रगट करके आत्मा का श्रवण-मन्थन और स्वानुभव करने के लिए वह शिष्य तैयार हुआ है।

यहाँ आचार्यदेव पूर्व के श्रवण को निमित्तरूप स्वीकार नहीं करते हैं क्योंकि उस समय जीव के भाव में नैमित्तिकभाव नहीं था; नैमित्तिकभाव प्रगट हुए बिना निमित्त किसका? 'शुद्धात्मा की बात पहले कभी नहीं सुनी' – ऐसा कहकर श्री आचार्यदेव एकत्वस्वभाव के श्रवण को अपूर्वरूप स्वीकार करते हैं। निमित्त की अपूर्वता है, वह यह प्रसिद्ध करती है कि यहाँ नैमित्तिकभाव में भी अपूर्वता का

www.vitragvani.com

प्रारम्भ प्रगट हुआ है। यदि उपादान में अपूर्वता प्रारम्भ नहीं हुई हो तो निमित्त की अपूर्वता को स्वीकार कौन करेगा? निमित्त-नैमित्तिक के मेलपूर्वक एकत्वस्वभाव का श्रवण जीव ने पूर्व में कभी नहीं किया है। निमित्त-नैमित्तिकभाव के मेलवाला श्रवण अपूर्व है, उसमें जीव का नैमित्तिकभाव भी अपूर्व है और उस अपूर्वभाव का निमित्त होने से वह निमित्त भी अपूर्व है।●

[समयसार, गाथा 4 के प्रवचन से]

'आकाश-पाताल भले एक हो जाएँ।'

'आकाश-पाताल भले एक हो जाएँ।' यद्यपि वे कभी एक होते नहीं है परन्तु ऐसा कहकर यह कहना है कि विपरीतता में पड़े हुए मनुष्य, पण्डित नाम धारण करनेवाले, त्यागी नाम धारण करनेवाले, साधु नाम धारण करनेवाले-सब तेरा विरोध करें और कहें कि 'हम यह जो व्रत, तप और भक्ति करते हैं, वह क्या धर्म नहीं है?' - इस प्रकार सारी दुनिया भले बदल जाए, परन्तु भाई! अन्तर में अतीन्द्रिय आनन्द का सागर है, वह शरीर से, दया-दान के विकल्प से और उन्हें जाननेवाली एक समय की पर्याय से भी भिन्न है, उस अपने ध्येय को तू चूकना नहीं। भीतर जहाँ आनन्द भरा है, उस आनन्द के नाथ आत्मा के संस्कार डालकर सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का प्रयत्न कर; उसके अतिरिक्त अन्य कोई साधन नहीं होगा।

(पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी)

www.vitragvani.com

श्रेणिक राजा तीर्थङ्कर :
किसका प्रताप

श्रेणिक राजा को कोई व्रत या चारित्र नहीं था, तथापि 'मैं पर का कर्ता नहीं, ज्ञाता ही हूँ' — ऐसी सम्यक्श्रद्धा के जोर से वे एकावतारी हुए। आगामी चौबीसी में इस भरतक्षेत्र के पहले तीर्थङ्कर भगवान होंगे। उन्हें अन्तर में निश्चयस्वरूप का यथार्थ भान था, पर का स्वामित्व नहीं था; इसीलिए एकावतारीपना हुआ। मुनिपना या व्रतादि न होने पर भी, श्रेणिक राजा एकावतारी हुए और तीर्थङ्कर होंगे। यह किसका प्रताप ? यह मात्र सम्यग्दर्शन की ही महिमा है। उसके बिना अनन्त बार धर्म के नाम से व्रतादि क्रियाएँ की, शरीर में काँटे चुभो डाले तो भी क्रोध न करे — ऐसी क्षमा रखी, तथापि धर्म नहीं हुआ; मात्र शुभभाव हुआ। इतना करने पर भी आत्मा, मन-वाणी-देह से पर है, पुण्य-पाप के विकल्प से रहित है - ऐसी श्रद्धा हुई नहीं; इसलिए जीव संसार में भटका है। अतः भव-भ्रमण से छूटने के अभिलाषी जीवों को सम्यग्दर्शन का प्रयत्न करना चाहिए।

www.vitragvani.com

मोक्षार्थी को मुक्ति का उल्लास

आत्मार्थी के परिणाम उल्लसित होते हैं, क्योंकि आत्म-स्वभाव को साधकर, अल्प काल में संसार से मुक्त होकर सिद्ध होता है; इससे अपनी मुक्ति का उसे निरन्तर उल्लास होता है और इस कारण वह उल्लसित वीर्यवान होता है।

(१)

श्री परमात्मप्रकाश ग्रन्थ में पशु का दृष्टान्त देकर कहते हैं कि यदि मोक्ष में उत्तम सुख नहीं होता, तो पशु भी बन्धन से छूटने की इच्छा क्यों करता? देखो, बन्धन में बँधे हुए बछड़े को पानी पिलाने के लिए बन्धन से मुक्त करते हैं तो वह छूटने के हर्ष में नाचने लगता है। तब अरे जीव! तू अनादि काल से अज्ञानभाव से इस संसार बन्धन में बँधा हुआ है और अब तुझे इस मनुष्यभव में सत्समागम से इस संसार बन्धन से मुक्त होने का अवसर आया है। श्री आचार्यदेव कहते हैं कि हम संसार से छूटकर मुक्ति प्राप्ति की बात सुनाएँगे... और यदि वह वार्ता सुनने पर तुझे संसार से छूटने का उत्साह न आवे तो तू उस बछड़े से भी गया-बीता है।

बन्धन से छूटकर खुली हवा में घूमने और पानी पीने का अवसर प्राप्त होने पर बछड़े को भी कैसा उत्साह आता है? तब जिसे समझने से अनादि का संसार-बन्धन छूटकर मुक्ति के परम आनन्द की प्राप्ति हो - ऐसे चैतन्यस्वभाव की बात ज्ञानी के द्वारा सुनने पर, किस आत्मार्थी जीव को अन्दर में हौंस और उत्साह नहीं आएगा? और जिसे अन्दर में सच समझने का उत्साह है, उसे

www.vitragvani.com

अल्प काल में मुक्ति हुए बिना नहीं रहेगी।

पहले तो जीव को संसार परिभ्रमण करते हुए, मनुष्यभव और सत् का श्रवण प्राप्त होना ही महाकठिन है और कदाचित् सत् का श्रवण प्राप्त हो, तब भी जीव ने उसे अन्तर में नहीं बैठाया; इसलिए संसार में ही परिभ्रमण किया। भाई! यह सब तुझे शोभा नहीं देता... ऐसे महामूल्यवान अवसर में भी तू आत्मस्वभाव को नहीं समझेगा तो फिर कब समझेगा और यह समझे बिना तेरे भ्रमण का अन्त कैसे आएगा? इसलिए अन्दर से उल्लास लाकर सत्समागम में आत्मा की सच्ची समझ कर ले। ● *(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन से)*

यह आत्मा को साधने की विधि है

जिस प्रकार धन की प्राप्ति का अभिलाषी राजा को पहचान कर, उसकी श्रद्धा करके, महा-उद्यमपूर्वक उसका सेवा करके उसे रिझाता है। विनय से, भक्ति से, ज्ञान से, सर्व प्रकार से सेवा करके, राजा को रिझा कर प्रसन्न करता है; इसी प्रकार मोक्षार्थी जीव, अन्तर्मुख प्रयत्न से प्रथम तो आत्मा को जानता है और श्रद्धा करता है। ज्ञान द्वारा जो आत्मा की अनुभूति हुई, वह अनुभूति ही मैं हूँ - ऐसे आत्मज्ञानपूर्वक प्रतीति करता है और तत्पश्चात् आत्मस्वरूप में ही लीन होकर आत्मा को साधता है - यह आत्मा को साधने की विधि है। *(पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी)*

www.vitragvani.com

मोक्षार्थी को मुक्ति का उल्लास

आत्मार्थी के परिणाम उल्लसित होते हैं, क्योंकि आत्म-स्वभाव को साधकर, अल्प काल में संसार से मुक्त होकर सिद्ध होता है; इससे अपनी मुक्ति का उसे निरन्तर उल्लास होता है और इस कारण वह उल्लसित वीर्यवान होता है।

(१)

यह आत्मा, ज्ञानस्वभावी है परन्तु इसने अनादि काल से एक सैकेण्डमात्र भी अपने स्वभाव को लक्ष्य में नहीं लिया; इसलिए उस स्वभाव की समझ भी कठिन लगती है और शरीर आदि बाह्य क्रियाओं में धर्म मानकर, व्यर्थ ही मनुष्यभव गँवा देता है। यदि आत्मस्वभाव का रुचि से अभ्यास करे तो स्वभाव की समझ सहज है; स्वभाव की बात कठिन नहीं होती। प्रत्येक आत्मा में समझने की सामर्थ्य है... परन्तु अपनी मुक्ति की बात सुनकर अन्दर से उल्लास आना चाहिए, तभी यह बात शीघ्र समझ में आ सकती है।

जिस प्रकार जब बैल को घर से छुड़ाकर खेत में काम करने के लिये ले जाते हैं, तब तो वह धीमे-धीमे जाता है और समय भी बहुत लगाता है परन्तु खेत के काम से छूटकर घर की तरफ वापस आता है, तब दौड़ते-दौड़ते आता है... क्योंकि उसे पता है कि अब कार्य के बन्धन से छूटकर घर पर चार पहर तक शान्ति से घास चरना है; इसलिए उसे उत्साह आता है और उसकी गति में वेग / तीव्रता आती है।

देखो, बैल जैसे प्राणी को भी छूटकारे का उत्साह आता है;

www.vitragvani.com

इसी प्रकार आत्मा अनादि काल से स्वभावघर से छूटकर संसार में बैल की तरह परिभ्रमण कर रहा है... श्रीगुरु उसे स्वभावघर में आने की बात सुनाते हैं। यदि अपनी मुक्ति की बात सुनकर भी जीव को उत्साह नहीं आवे तो वह उस बैल से भी गया-बीता है। अरे! पात्र जीव को तो अपने स्वभाव की बात सुनते ही अन्दर से मुक्ति का उल्लास आता है और उसका परिणमन वेगपूर्वक स्वभाव-सन्मुख ढल जाता है।

भाई! तूने जितने काल संसार में परिभ्रमण किया है, उतना काल मोक्ष का उपाय करने में नहीं लगता, क्योंकि विकार की तुलना में स्वभाव का वीर्य अनन्तगुणा है; इसलिए वह अल्प काल में ही मोक्ष को साध लेता है... परन्तु इसके लिए जीव को अन्दर में यथार्थ उल्लास आना चाहिए। ●

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन से)

अन्दर में यथार्थ उल्लास आना चाहिए।

भाई! तूने जितने काल संसार में परिभ्रमण किया है, उतना काल मोक्ष का उपाय करने में नहीं लगता, क्योंकि विकार की तुलना में स्वभाव का वीर्य अनन्तगुणा है; इसलिए वह अल्प काल में ही मोक्ष को साध लेता है... परन्तु इसके लिए जीव को अन्दर में यथार्थ उल्लास आना चाहिए। *(पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी)*

www.vitragvani.com

महादुर्लभ मानव जीवन

हे जीव! महापुण्ययोग से तूने यह मनुष्य अवतार प्राप्त किया है... संसार के दूसरे अवतारों की अपेक्षा यह मनुष्य अवतार उत्तम माना गया है... ऐसे मूल्यवान् मानव जीवन में क्या करने योग्य है? किस उपाय से सच्चे सुख की प्राप्ति होती है? जिज्ञासु को किस प्रकार का तत्त्वविचार करना चाहिए? – इन सबका सुन्दर विवेचन यहाँ एकदम सरल शैली में किया गया है।

श्रीमद् राजचन्द्रजी को मात्र सात वर्ष की उम्र में पूर्व भवों का ज्ञान हुआ था। उनके ज्ञान का क्षयोपशम बहुत था, सोलह वर्ष की अल्प आयु में मात्र तीन दिन में उन्होंने मोक्षमाला के 108 पाठों की रचना की है। उसमें चौथे पाठ में मानवदेह की दुर्लभता और उत्तमता किस प्रकार है? – यह बात समझायी गयी है।

'तुमने सुना तो होगा कि विद्वान् मानवदेह को दूसरी सभी देहों की अपेक्षा उत्तम कहते हैं परन्तु उत्तम कहने का कारण तुम नहीं जानते होंगे; इसलिए मैं उसे कहता हूँ।' यह मनुष्यदेह अनन्त काल में प्राप्त होती है, इसमें धनादिक प्राप्त होना कोई अपूर्व नहीं है और उससे आत्मा की महिमा भी नहीं है। आत्मा, अन्तर में ज्ञान-आनन्द से भरपूर पदार्थ है, उसकी समझ करना ही अपूर्व है और उसी से मानवदेह की उत्तमता है।

विद्वान्, मानवदेह को अन्य सब देहों से उत्तम कहते हैं परन्तु वह किसलिये उत्तम है, यह यहाँ समझाते हैं। अमूल्य तत्त्व विचार में श्रीमद्जी स्वयं कहते हैं कि –

www.vitragvani.com

बहु पुण्य-पुंज प्रसंग से शुभदेह मानव का मिला।
तो भी अरे! भवचक्र का, फेरा न एक कभी टला॥

यह मानवदेह तो जड़ है परन्तु मानवपने में जीव, सम्यग्दर्शन -ज्ञान-चारित्ररूप पवित्रभाव प्रगट कर सकता है; इसलिए देह को भी उपचार से *'शुभदेह'* कहा जाता है। अनन्त काल में यह मानवदेह प्राप्त हुआ है, यदि इसमें आत्मा की सच्ची समझ प्रगट करे तो इसे उत्तम कहा जाता है; इसके अतिरिक्त लक्ष्मी के ढ़ेर अथवा बड़े अधिकार प्राप्त होने से मानवदेह की उत्तमता ज्ञानियों ने नहीं कही है; इसलिए कहा है कि -

लक्ष्मी बढ़ी अधिकार भी, पर बढ़ गया क्या बोलिये।
परिवार और कुटुम्ब है क्या ? वृद्धि नय पर तोलिये॥
संसार का बढ़ना अरे! नरदेह की यह हार है।
नहिं एक क्षण तुझको अरे! इसका विवेक विचार है॥

बाहर में लक्ष्मी इत्यादि का संयोग बढ़ा, इससे आत्मा में क्या बढ़ा ? - यह तो विचार करो। किसी बाह्य संयोग से आत्मा की महिमा नहीं है। यदि जीव, मानवदेह प्राप्त करके शरीर से भिन्न आत्मा की पहचान नहीं करे तो इस मनुष्यदेह की कोड़ी की भी कीमत नहीं है। यह जीव, आत्मा के भान बिना मात्र बाह्य संयोग की मिठास करके, संसार बढ़ाकर मनुष्यभव हार जाता है।

जो आत्मा की अन्तर की चीज होती है, वह आत्मा से भिन्न नहीं हो सकती। शरीर, पैसा, स्त्री, पुत्र इत्यादि वस्तुएँ आत्मा की नहीं हैं, इसलिए वे वस्तुएँ परभव में आत्मा के साथ नहीं जातीं। लाखों रुपये प्राप्त होने से जीव की महिमा नहीं है और रुपये प्राप्त

www.vitragvani.com

होने में वर्तमान की चतुराई भी कार्यकारी नहीं है। जीवों को बाह्य संयोग तो पूर्व प्रारब्ध अनुसार प्राप्त होते हैं। कहीं भगवान किसी को सुखी-दुःखी नहीं करते तथा संयोग का भी सुख-दुःख नहीं है। जीव स्वयं अपनी भूल से पराश्रित होकर दुःखी होता है और यदि आत्मा की पहचान करके स्वाश्रयभाव प्रगट करे तो स्वयं से स्वयं का कल्याण होता है।

हे जीव! अनन्त काल में महामूल्यवान् यह मनुष्यदेह और सत्समागम प्राप्त हुआ है; इसलिए अब तू अपने आत्मा की समझ कर। आत्मा की समझ किये बिना तूने अनन्त-अनन्त काल निगोद और चींटी इत्यादि के भव में व्यतीत किया है। अरे! वहाँ तो सत् के श्रवण का अवकाश भी नहीं था। अब यह दुर्लभ मनुष्यभव प्राप्त करके समझ का रास्ता ले। भाई! अन्तर में आत्मा की महिमा आना चाहिए। पैसा, स्त्री इत्यादि की जो महिमा है, वह मिटकर अन्तर में चैतन्यस्वरूप की महिमा का भास होना चाहिए।

जिस प्रकार हिरण को अपनी नाभि में स्थित सुगन्धित कस्तूरी का विश्वास नहीं आता, इसलिए वह बाह्य में सुगन्ध मानकर परिभ्रमण करता है; इसी प्रकार इस जीव में अपने में ही अपनी प्रभुता भरी है, इसमें ही तीन लोक का नाथ परमात्मा होने की सामर्थ्य विद्यमान है परन्तु पामर को अपनी प्रभुता का विश्वास नहीं आता; इसलिए अपनी प्रभुता की महिमा विस्मृत करके बाह्य पदार्थों की महिमा करता है। इस कारण पराश्रय से संसार में परिभ्रमण करता है।

देखो, इस मनुष्यदेह में ही मुख्यरूप से आत्मा की समझ करने का अवकाश है। जब तक आत्मतत्त्व की महिमा को नहीं

www.vitragvani.com

जाना, तब तक व्रत-तप-दान अथवा यात्रा इत्यादि करने से क्या हुआ ? आत्मा की पहचान बिना मनुष्यदेह की अथवा व्रतादि की परमार्थमार्ग में कुछ गिनती नहीं है। आत्मा की पहचान के कारण ही मनुष्यदेह की उत्तमता कही गयी है।

'यह संसार बहुत दुःख से भरा हुआ है। ज्ञानी इसमें से तरकर पार होने का प्रयत्न करते हैं। मोक्ष को साधकर वे अनन्त सुख में विराजमान होते हैं। यह मोक्ष दूसरी किसी देह से मिलनेवाला नहीं है। देव, तिर्यञ्च या नरक, इनमें से एक भी गति से मोक्ष नहीं है; मात्र मानवदेह से मोक्ष है।'

यह संसार महादुःख से भरपूर है। अज्ञानभाव के कारण जीव चार गतियों में परिभ्रमण करता है। देव, मनुष्य, तिर्यञ्च और नरक - यह चार गतियाँ हैं। उनमें मनुष्यदेह अनन्त काल में प्राप्त होती है और मनुष्यदेह में भी सत्समागम की प्राप्ति तो महा-दुर्लभ है। मनुष्यभव प्राप्त करके भी जीव ने अपने आत्मा की दरकार नहीं की है और बाहर में देह, परिवार इत्यादि पर की वार्ता में रुककर मानव जीवन व्यर्थ गँवा दिया है। यह तो 'घर का बेटा भूखों मरे और पड़ोसी के लिए आटा' - जैसी बात है। अपने आत्मा को समझने की दरकार नहीं की है और पड़ोसी अर्थात् परवस्तु को जानने में तथा उसका अभिमान करने में रुक गया है।

यह जीव, अपने आत्मा की समझ तो करता नहीं है और मैं पर का भला कर दूँ - ऐसा मानता है। अरे भाई! परवस्तु में आत्मा का अधिकार चलता ही नहीं। शरीर में रोग हो तो उसके अभाव की इच्छा होने पर भी वह नहीं मिटता है और रोग लाने की इच्छा

www.vitragvani.com

नहीं होने पर भी रोग होता है; इसलिए आत्मा की इच्छा पर में काम नहीं आती। आत्मा पर से भिन्न है; इसलिए आत्मा किसी दूसरे का भला अथवा बुरा नहीं कर सकता, फिर भी पर को अपना मानकर उसकी ममता करता है, इसी कारण जीव दुःखी है।

देखो, श्रीमद् राजचन्द्र सोलह वर्ष की युवा अवस्था में तो संसार का दुःखमय वर्णन करते हैं। यह संसार बहुत दुःख से भरा है। कोई बड़ा राजा हो या सेठ हो, इससे उसे सुखी नहीं कहा गया है। जिन्हें शरीर से भिन्न चैतन्यमूर्ति आत्मा का भान नहीं है और पर की ममता करते हैं, वे सभी जीव इस संसार में महादुःखी हैं। राज्य, लक्ष्मी, स्त्री, पुत्र, मान-प्रतिष्ठा इत्यादि होने पर भी पर की ममता के कारण यह जीव दुःखी ही है। रोग अथवा निर्धनता का दुःख जीव को नहीं है परन्तु अन्तर में अपना आत्मा सुख से भरपूर है, उसकी महिमा नहीं करके, पर की महिमा करके ममता करता है; इसीलिए दुःख है। तात्पर्य यह है कि जीव का ममत्वभाव ही संसार है और ममत्वभाव का ही दुःख है। परवस्तु में सुख अथवा दुःख नहीं है। जीव परभव में जाए, तब शरीर आदि परवस्तुएँ तो यहीं पड़ी रह जाती हैं, वे जीव के साथ नहीं जातीं; जीव अपने ममत्वभाव को साथ लेकर जाता है। वह ममत्वभाव ही संसार है।

ज्ञानी-सन्त आत्मा को पहचानकर इस दुःखमय संसार से तिरकर पार होने का प्रयोजन साधते हैं और मोक्षदशा प्रगट करते हैं। आत्मा का परिपूर्ण सुख मोक्षदशा में प्रगट होता है। आत्मा के स्वभाव में सुख भरा है, उसे पहचानकर, उसमें एकाग्र होने से मोक्षदशा में वह सुख परिपूर्ण प्रगट होता है। जिस प्रकार चने में स्वाद भरा है, इसलिए उसे सेकने से वह स्वाद आता है और फिर

www.vitragvani.com

उसे बोने पर वह उगता नहीं है; इसी प्रकार चैतन्यबिम्ब आत्मा में सुखस्वभाव भरा है, उसकी श्रद्धा और एकाग्रता के बल से मोक्षदशा में वह सुख प्रगट होता है और फिर उस आत्मा का अवतार अर्थात् जन्म-मरण नहीं होता। ऐसी मोक्षदशा प्रगट होने का अवसर इस मनुष्यपने में ही है।

पहले तो मनुष्यदेह में सत्समागमपूर्वक आत्मा की रुचि से आत्मा की पहिचान करे कि मैं शुद्ध हूँ, पवित्र हूँ, ज्ञान-आनन्द से भरपूर हूँ; विकारभाव होते हैं, वह दुःख है, वह मेरा स्वरूप नहीं है; किसी भी संयोग से मुझे सुख-दुःख नहीं है। इस प्रकार भान करके फिर आत्मा में स्थिरता करने से राग-द्वेष का अभाव होकर मोक्षदशा का सुख प्रगट होता है। मोक्ष होने की योग्यता इस आत्मा में ही भरी है। शक्तिरूप से यह आत्मा ही परमात्मा है। '**अप्पा सो परमप्पा**' अर्थात् आत्मा ही स्वभाव से परमात्मा है। उसका भान करके आत्मा स्वयं ही प्रगटरूप परमात्मा हो जाता है। यह सब इस मनुष्यभव में ही हो सकता है और इसीलिए ज्ञानियों ने मानवदेह को उत्तम कहा है।

प्रत्येक आत्मा, परमात्मा के समान सच्चिदानन्द की मूर्ति है। बाहर के देह में अन्तर है तथा वर्तमान अवस्था में अन्तर है परन्तु स्वभाव से तो सभी आत्माएँ प्रभु हैं। अपूर्णता कोई आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं है। जिस प्रकार स्वर्ण के सौ टुकड़ों पर अलग-अलग प्रकार के वस्त्र लपेटे हों, परन्तु अन्दर सोना तो सबमें एक समान ही है; इसी प्रकार प्रत्येक आत्मा भिन्न-भिन्न चैतन्यधातु का पिण्ड है, बाह्य में छोटा-बड़ा शरीर और वर्तमान क्षणिक अवस्था में अपूर्णता है, उसे लक्ष्य में नहीं लेकर त्रिकाली

www.vitragvani.com

स्वभाव की दृष्टि से देखा जाए तो प्रत्येक आत्मा का स्वभाव परिपूर्ण है। सिद्ध परमात्मा में जितनी सामर्थ्य है, उतनी ही सामर्थ्य प्रत्येक आत्मा में है परन्तु अज्ञानी जीव उसे भूलकर शरीर और विकारभाव जितना ही अपने को मानता है; इसलिए संसार में परिभ्रमण करता है। ज्ञानीजन तो अपने परिपूर्ण आत्मस्वभाव की पहचान करके उसके आश्रय से मोक्ष प्राप्त करने का साधन करते हैं और संसार का पार पा जाते हैं।

आत्मा की पहचान करके मोक्ष प्राप्ति का साधन इस मनुष्यदेह में ही है, इसके अतिरिक्त दूसरी गति में आत्मा का भान हो सकता है परन्तु मोक्षदशा का पूर्ण साधन नहीं हो सकता। पुण्य करे तो स्वर्ग में जाए और पाप करे तो नरक में जाए तथा माया-कपट के भाव करे तो तिर्यञ्च में जाए; वहाँ कोई-कोई जीव, आत्मा का भान प्रगट करते हैं परन्तु मोक्षदशा प्राप्त होने योग्य पूर्ण पुरुषार्थ वहाँ नहीं हो सकता। यद्यपि शरीर के कारण मोक्षदशा नहीं रुकती, परन्तु वहाँ जीव की अपनी योग्यता ही उस प्रकार की होती है।

मोक्ष का उपाय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही है। उसका परिपूर्ण प्रयत्न इस मनुष्यभव में ही होता है; इसलिए मोक्षदशा की प्राप्ति इस मनुष्यभव में ही होती है। ऐसा मनुष्यदेह प्राप्त करके भी मतिहीन अज्ञानी जीव, उसे विषय-भोगों में व्यर्थ गँवा देता है। इस सम्बन्ध में पण्डित श्री बनारसीदासजी कहते हैं कि -

'ज्यों मतिहीन विवेक बिना नर, साज मतंगज ईंधन ढोवें,
कंचन भाजन धूल भरे शठ, मूढ सुधारस सौं पग धोवे।
वादिन काग उड़ावन कारण, डार महामणि मूरख रोवे,
त्यों ये दुर्लभ देह बनारसी, पाय अजान अकारथ खोवे।'

www.vitragvani.com

जिस प्रकार कोई मतिहीन और विवेकरहित मनुष्य, हाथी को विविध अलङ्कारों से शृङ्गार कराकर, उससे लकड़ियाँ उठवाता है तथा मूर्ख मनुष्य, सोने के थाल में धूल भरता है और मूढ़ जीव सुधारस को पीने के बदले, उससे पैर धोता है; उसी प्रकार अज्ञानी जीव यह दुर्लभ मनुष्यदेह प्राप्त करके व्यर्थ गँवाता है।

किसी मनुष्य पर राजा प्रसन्न हो गया और उसने एक सोने के आभूषण से शृङ्गारित हाथी पुरस्कार में दे दिया, परन्तु उस मूर्ख जीव ने तो हाथी का उपयोग लकड़ियों के गठ्ठर उठाने में किया। वह स्वयं हाथी पर तो नहीं बैठता, किन्तु उससे गठ्ठर उठवाता है। इसी प्रकार मूढ़ अज्ञानी जीव भी यह दुर्लभ मनुष्यदेह पाकर आत्मार्थ साधने के बदले उसे व्यर्थ खोता है। उत्तम मानवभव प्राप्त करके, मूढ़ जीव अपने आत्महित का साधन नहीं करते और मैं पर का कल्याण कर दूँ – ऐसा व्यर्थ अभिमान करके मनुष्यभव हार जाते हैं।

मनुष्यपना प्राप्त करके बहुत धन संग्रहित हो, उससे कहीं आत्मा की महिमा नहीं बढ़ जाती और निर्धनपना होने से आत्मा की महिमा घट नहीं जाती। जिस प्रकार निर्धन और धनवान के जन्म और मरण का एक ही मार्ग है; इसी प्रकार धर्म का और मोक्ष का मार्ग भी समस्त जीवों के लिए एक ही प्रकार का है। धनवान को धर्म हो और निर्धन को नहीं हो – ऐसा नहीं है, क्योंकि सधनता और निर्धनता से धर्म नहीं होता, अपितु आत्मा का भान करने से धर्म होता है। निर्धन हो या धनवान, जो आत्मा का भान करता है, उसे ही धर्म होता है। देखो, मात्र मानवदेह से ही मोक्ष होता है, इस कारण इस मानवदेह को उत्तम कहा है।

www.vitragvani.com

'अब तुम पूछोगे कि सभी मानवों का मोक्ष क्यों नहीं होता? इसका उत्तर भी मैं कह दूँ। जो मानवता को समझते हैं, वे संसार सागर से पार हो जाते हैं। जिनमें विवेकबुद्धि का उदय हुआ हो, उनमें विद्वान् मानवता मानते हैं। उससे सत्यासत्य का निर्णय समझकर परम तत्त्व, उत्तम आचार और सद्धर्म का सेवन करके, वे अनुपम मोक्ष को पाते हैं।'

मोक्ष का साधन इस मानवभव में ही होता है परन्तु सभी मानवों को मोक्ष नहीं हो जाता। मनुष्यपने में भी जो विवेकबुद्धि अर्थात् स्व-पर का यथार्थ ज्ञान प्रगट करके आत्मा को समझते हैं, उन्हें ही मोक्ष होता है। जो सत्य और असत्य का निर्णय करके, परमतत्त्व को अर्थात् आत्मा के शुद्धस्वभाव को समझते हैं तथा राग-द्वेषरहित आत्मा के निर्दोष स्वभाव में एकाग्रतारूप उत्तम आचरण का पालन करते हैं, वे ही मोक्ष प्राप्त करते हैं।

'मनुष्य के शरीर के देखाव से विद्वान् उसे मनुष्य नहीं कहते, परन्तु उसके विवेक के कारण उसे मनुष्य कहते हैं।'

आत्मा का निर्दोष स्वभाव क्या है और विकार क्या है? इसका विवेक करनेवाला ही वास्तव में मनुष्य है परन्तु हाथ-पैर इत्यादि की आकृति से वास्तव में ज्ञानी, मनुष्यपना नहीं कहते। जिसे स्व-पर का विवेक नहीं है - ऐसे मानवपन को ज्ञानी उत्तम नहीं कहते। जिसने स्व-पर का विवेक प्रगट किया है, वही वास्तव में मनुष्य है और उसे ही ज्ञानीजन उत्तम कहते हैं। मैं कौन हूँ और मेरा स्वरूप क्या है तथा मुझसे भिन्न पदार्थ क्या हैं? इसका जिसे विवेक नहीं है, उसे धर्म नहीं होता है।

www.vitragvani.com

अन्तर में स्व-पर का विवेक प्रगट किये बिना, मात्र दो हाथ, दो पैर, मुँह इत्यादि आकृति से ही मनुष्यपना नहीं समझना, क्योंकि यदि ऐसा मानोगे तो बन्दर को भी यह सब है; इसलिए उसे भी मनुष्य कहना पड़ेगा।

'जिसके दो हाथ, दो पैर, दो आँखें, दो कान, एक मुख, दो होंठ और एक नाक हों उसे मनुष्य कहना - ऐसा हमें नहीं समझना चाहिए। यदि ऐसा समझें तो फिर बन्दर को भी मनुष्य मानना चाहिए क्योंकि उसने भी तदनुसार सब प्राप्त किया है; विशेषरूप से उसके एक पूँछ भी है। तब क्या उसे महामानव कहें? नहीं, जो मानवता समझे, वही मानव कहलाता है।'

देह से भिन्न आत्मा का यथार्थ स्वरूप समझकर अन्तर में विवेक प्रगट करनेवाला ही मानव है। अमूल्य तत्त्वविचार में ही 'विवेक' सम्बन्धी पद श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कहा है -

मैं कौन हूँ? आया कहाँ से? और मेरा रूप क्या?
सम्बन्ध दुखमय कौन हैं? स्वीकृत करूँ परिहार क्या॥
इसका विचार विवेकपूर्वक, शान्त होकर कीजिए।
तो सर्व आत्मिकज्ञान के, सिद्धान्त का रस पीजिए॥

मैं यह देह नहीं, किन्तु आत्मा हूँ। मैं नया नहीं हुआ हूँ; मैं तो अनादि का हूँ। मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, रागादिभाव मेरा वास्तविक स्वरूप नहीं है। देहादि परवस्तुओं के साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार अन्तर में आत्मा का विचार और विवेक प्रगट करनेवाला, वह जीव आत्मिकज्ञान के सर्व तत्त्वों का अनुभव करता है।

'ज्ञानी कहते हैं कि यह भव बहुत दुर्लभ है, अति पुण्य के

www.vitragvani.com

प्रभाव से यह देह मिलती है; इसलिए इससे शीघ्र आत्मसार्थकता कर लेनी चाहिए।.....गजसुकुमार जैसे छोटे बालक भी मानवता को समझने से मोक्ष को प्राप्त हुए। मनुष्य में जो शक्ति विशेष है, उस शक्ति से वह मदोन्मत्त हाथी जैसे प्राणी को भी वश में कर लेता है; इसी शक्ति से यदि वह अपने मनरूपी हाथी को वश में कर ले तो कितना कल्याण हो!'

जगत् में एकेन्द्रिय तथा चींटी इत्यादि की संख्या बहुत है और नारकी व देवों की संख्या भी बहुत है परन्तु मनुष्य बहुत कम हैं। मनुष्यदेह प्राप्त होना महाकठिन है; इसलिए ऐसी दुर्लभ मनुष्यदेह प्राप्त करके शीघ्र आत्मकल्याण कर लेना चाहिए। शरीर से भिन्न ज्ञानमूर्ति आत्मा का भान कर लेने में ही मानव जीवन की सार्थकता है। श्रीमद् राजचन्द्र ने स्वयं छोटी उम्र में यह रचना की है और इसमें वैराग्य के दृष्टान्त भी छोटी उम्र के राजकुमारों के दिये हैं। गजसुकुमार आदि राजकुमार छोटी उम्र में आत्मभान करके, संसार से वैराग्य प्राप्त करके मोक्षदशा को प्राप्त हुए हैं।

'किसी भी अन्य देह में पूर्ण सद्विवेक का उदय नहीं होता और मोक्ष के राजमार्ग में प्रवेश नहीं हो सकता; इसलिए हमें मिली हुई दुर्लभ मानवदेह को सफल कर लेना आवश्यक है।' अन्य तीन गतियों में सम्यग्ज्ञान हो सकता है परन्तु पूर्ण सद्विवेक अर्थात् केवलज्ञान तो मनुष्यपने में ही होता है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वह मोक्ष का राजमार्ग है। सम्यग्दर्शन और ज्ञान ही मोक्ष का कारण है और वह चारों गतियों में होता है परन्तु सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानपूर्वक सम्यक्चारित्र मोक्ष का राजमार्ग है अर्थात् साक्षात् मोक्षमार्ग है और वह इस मनुष्यभव में ही होता है - ऐसा

www.vitragvani.com

दुर्लभ मनुष्य अवतार प्राप्त हुआ है; इसलिए जैसे बने वैसे, शीघ्रता से आत्मा की पहचान करके वीतरागमार्ग में सावधान होना चाहिए।

'...बहुत से मूर्ख दुराचार में, अज्ञान में, विषय में और अनेक प्रकार के मद में, मिली हुई मानवदेह को वृथा गँवा देते हैं। अमूल्य कौस्तुभ खो बैठते हैं। ये नाम के मानव गिने जा सकते हैं, बाकी तो वे वानररूप ही हैं।'

यह अमूल्य चिन्तामणि जैसी मनुष्यदेह प्राप्त करके, आत्मार्थ साधने के बदले कितने ही मूर्ख जीव, विषय-कषाय में जीवन गँवा देते हैं तथा कितने ही जीव आत्मा को समझे बिना क्रियाकाण्ड में रूककर अज्ञान ही अज्ञान में मनुष्यभव हार जाते हैं। यदि आत्मा का भान नहीं करे तो बन्दर के जीवन में और मनुष्य के जीवन में यहाँ कोई अन्तर नहीं माना गया है; इसलिए जैसे बने वैसे शीघ्र सत्समागम से आत्मा की पहचान करना और इस मनुष्यभव में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म का सेवन करना आवश्यक है। यही आत्महित का उपाय है। ●

[श्रीमद् राजचन्द्रजी कृत मोक्षमाला के पाठ - 4 पर पूज्य गुरुदेवश्री का प्रवचन]

उसका जीवन धन्य है

यह मनुष्यभव प्राप्त करके करोड़ों रुपये कमाना अथवा मान प्रतिष्ठा इत्यादि प्राप्त करने में जीवन व्यतीत करने को यहाँ धन्य नहीं कहते हैं, अपितु जो अन्तरङ्ग में चैतन्य की भावना करता है, उसका जीवन धन्य है - ऐसा कहते हैं। *(पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी)*

www.vitragvani.com

भव-भ्रमण का भय

यह आत्मा अपने स्वभाव को भूलकर अनन्त काल से चौरासी लाख योनियों में जन्म धारण करके परिभ्रमण कर रहा है। यह शरीर तो नया है और श्मशान में राख हो जानेवाला है। आत्मा के भान बिना ऐसे अनन्त शरीर हो चुके हैं और जो आत्मा का भान नहीं करेगा, उसे अभी अनन्त शरीर धारण करने पड़ेंगे।

अरे रे! मुझे कहाँ तक यह जन्म-मरण करने हैं। इस भव-भ्रमण का कहीं अन्त है या नहीं? इस प्रकार जब तक चौरासी के अवतार का भय नहीं होता, तब तक आत्मा की प्रीति नहीं होती। 'भय बिना प्रीति नहीं' अर्थात् भव-भ्रमण का भय हुए बिना, आत्मा की प्रीति नहीं होती। सच्ची समझ ही विश्राम है। अनन्त काल से संसार में परिभ्रमण करते हुए कहीं विश्राम प्राप्त नहीं हुआ है। अब सच्ची समझ करना ही आत्मा का विश्राम है।

देखो, यह जीव एक सर्प देखने पर कितना अधिक भयभीत होता है क्योंकि इसे शरीर के प्रति ममत्व और प्रीति है। अरे! प्राणी को एक शरीर पर सर्प के डंसने का इतना भय है तो अनन्त जन्म-मरण का भय क्यों नहीं है? आत्मा की समझ बिना अनन्त अवतार के दुःख खड़े हैं, इस बात का तुझे भय क्यों नहीं है? अरे! यह भव पूरा हुआ, वहीं दूसरा भव तैयार है; इस प्रकार एक के बाद दूसरा भव, तू अनन्त काल से कर रहा है। आत्मा स्वयं सच्ची समझ न करे तो जन्म-मरण का अभाव नहीं होता।

अरे रे! जिसे चौरासी के अवतार का डर नहीं है, वह जीव

www.vitragvani.com

आत्मा को समझने की प्रीति नहीं करता। अरे! मुझे अब चौरासी के अवतार का परिभ्रमण किस प्रकार मिटे? – ऐसा अन्दर में भव-भ्रमण का भय लगे तो आत्मा की दरकार करके सच्ची समझ का प्रयत्न करे।

देखो, यह जीव करोड़ों रुपये की आमदनीवाला सेठ तो अनन्त बार हुआ है और अनन्त बार ही घर-घर जाकर भीख माँगकर पेट भरनेवाला भिखारी भी हुआ है; आत्मा के भान बिना पुण्य करके बड़ा देव भी अनन्त बार हुआ है और पाप करके नारकी भी अनन्त बार हुआ है परन्तु अभी भी इसे भव-भ्रमण से थकान नहीं लगती है। आचार्यदेव कहते हैं कि भाई! 'अब मुझे भव नहीं चाहिए' – इस प्रकार यदि तुझे भव-भ्रमण से थकान लगी हो तो आत्मा की प्रीति करके उसका स्वरूप समझ! इसके अतिरिक्त अन्य कोई शरण नहीं है।

मुख्यरूप से मनुष्यभव में ही सच्ची समझ उपलब्ध होती है – ऐसा मनुष्यभव महादुर्लभ है। मनुष्यभव तो आत्मा की समझ करने से ही सार्थक है। लोग कहते हैं 'चलो भाई मेला देखने, यह मनुष्यभव फिर से नहीं मिलेगा, चलो मेले में।' अरे भाई! क्या तुझे मेला देखने के लिये यह मनुष्यभव मिला है? अहो! अज्ञानी जीव यह मनुष्यभव प्राप्त करके, विषयभोगों में सुख मानकर अटक जाते हैं। जिस प्रकार बालक एक पेड़ा / मिष्ठान के मूल्य में लाखों का हार दे देता है; उसी प्रकार अज्ञानी जीव, पुण्य-पाप और विषयभोग के स्वाद में अमूल्य चेतनरूपी आत्मा को बेच देता है। महामूल्यवान् मनुष्यभव में आत्मा की समझ करने के बदले विषयभोग में जीवन गँवा देता है।

www.vitragvani.com

जो जीव, आत्मा की रुचि और मिठास छोड़कर धन, शरीर तथा भोग की रुचि और मिठास करता है, वह जीव, आत्मस्वभाव की हत्या और भावमरण करता है। ऐसे भावमरण का अभाव करने के लिए करुणा करके आचार्यदेव ने सत्शास्त्रों की रचना की है।

क्षणिक विकार को अपना मानकर, आत्मस्वभाव का अनादर करना ही भावमरण है/मृत्यु है। इस भावमरण का अभाव, अमर आत्मस्वभाव की पहचान से होता है। इसलिए हे भाई! यदि तुझे भव-दुःखों का भय हो तो आत्मा को समझने की प्रीति कर! जन्म-मरण के अन्त की बात अपूर्व है, मूल्यवान् है और जिसे समझने की धगश जागृत होती है, उसे समझ में आ सके - इतनी सरल भी है।

जिस प्रकार कुँवारी कन्या, पिता के घर को अपना घर और उसकी पूँजी को अपनी पूँजी कहती है परन्तु जहाँ उसकी सगाई होती है तो तुरन्त ही यह मान्यता बदल जाती है और वह मानने लगती है कि पिता का घर और पूँजी मेरी नहीं है। जहाँ सगाई हुई है, वह घर और वर, मेरा है। देखो, मान्यता बदलने में कितनी देर लगती है? इसी प्रकार अनादि से संसार में परिभ्रमण करता हुआ जीव, शरीर को ही अपना घर मान लेता है परन्तु जहाँ ज्ञानी ने समझाया कि 'सर्व जीव हैं सिद्धसम, जो समझे वह होय' - अर्थात् सभी आत्माएँ अपने स्वभाव से सिद्ध समान ही हैं - ऐसी रुचि और ज्ञान हुआ, वहाँ एकदम रुचि बदल गयी और भासित हुआ कि यह पुण्य-पाप अथवा शरीर मेरा नहीं है; मैं तो सिद्ध समान हूँ, सिद्धपना ही मेरा स्वरूप है।

जिस प्रकार सगाई होने के बाद भी वह कन्या कुछ समय तक

www.vitragvani.com

पिता के घर में रहती है तो भी लक्ष्य तो ससुराल में ही है; इसी प्रकार जहाँ आत्मस्वभाव का भान हुआ, वहाँ सिद्ध के साथ सगाई हो गयी; अब थोड़े समय अर्थात् दो-चार भव संसार में रहे तो भी धर्मी का लक्ष्य बदल गया है। सिद्ध जैसा स्वभाव वह मैं हूँ और यह मैं नहीं; इस प्रकार अन्तर्दृष्टि बदल गयी है।

भाई! यह तो अन्तर की बात अपूर्व है, जिसे अत्यन्त सरल रीति से कहा जा रहा है। दूसरी सब बातें तो सारी जिन्दगी में सुनी होगी, परन्तु यह आत्मा की अपूर्व बात है, जो भाग्यशाली को ही सुनने मिलती है। प्रभु! तुमने अपनी आत्मा की बात कभी प्रीति से सुनी भी नहीं है।

भाई! अन्तर में विचार करो कि तुम्हें आत्मा का प्रेम कितना है? और स्त्री-पुत्रादि के प्रति कितना प्रेम है? अन्दर में जो पुण्य -पाप की वृत्तियाँ होती हैं, वही मैं हूँ - ऐसा मानकर उनकी प्रीति करता है परन्तु आत्मा कौन है? - उसकी समझ नहीं करता। बाहर में 'यह ठीक है और यह ठीक नहीं है' - ऐसा मानकर अटक जाता है परन्तु आत्मा को तो पहचानता नहीं; इस प्रकार परवस्तु में इष्ट-अनिष्ट की कल्पना करके अज्ञानी तो संसार में परिभ्रमण किया करता है और ज्ञानी तो पर से भिन्न आत्मा को पहचानकर निर्मलपर्याय प्रगट करके सिद्ध हो जाता है।

आत्मा अपने स्वभाव से पूर्ण है और पर से रिक्त है। भगवान् आत्मा, ज्ञान से भरपूर और राग-द्वेष से खाली है - ऐसे आत्मा का भान करना, वह सुई में डोरा पिरोने जैसा है। जैसे, डोरा पिरोई हुई सुई गिर जाने पर भी खोती नहीं है; उसी प्रकार जिसने अपनी

www.vitragvani.com

आत्मा में सम्यग्ज्ञानरूपी डोरा पिरोया है, उसे कदाचित् एक-दो भव हों तो भी उसका आत्मभान मिटता नहीं है और वह संसार में दीर्घ काल तक परिभ्रमण नहीं करता है। इसलिए जिसे भव-भ्रमण का भय हो, उसे इस मनुष्यभव में सच्ची समझरूपी डोरा आत्मा में पिरो लेना चाहिए। ●

जीवन गँवा देता है...

मुख्यरूप से मनुष्यभव में ही सच्ची समझ उपलब्ध होती है - ऐसा मनुष्यभव महादुर्लभ है। मनुष्यभव तो आत्मा की समझ करने से ही सार्थक है। लोग कहते हैं 'चलो भाई मेला देखने, यह मनुष्यभव फिर से नहीं मिलेगा, चलो मेले में।' अरे भाई! क्या तुझे मेला देखने के लिये यह मनुष्यभव मिला है? अहो! अज्ञानी जीव यह मनुष्यभव प्राप्त करके, विषयभोगों में सुख मानकर अटक जाते हैं। जिस प्रकार बालक एक पेड़ा / मिष्ठान के मूल्य में लाखों का हार दे देता है; उसी प्रकार अज्ञानी जीव, पुण्य-पाप और विषयभोग के स्वाद में अमूल्य चेतनरूपी आत्मा को बेच देता है। महामूल्यवान् मनुष्यभव में आत्मा की समझ करने के बदले विषयभोग में जीवन गँवा देता है।

(पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी)

www.vitragvani.com

पुरुषार्थ उत्तेजक होते हैं ज्ञानी के वचन

जो इच्छो परमार्थ तो करो सत्य पुरुषार्थ;
भवस्थिति आदि नाम ले छेदो नहीं आत्मार्थ।

- आत्मसिद्धि-१३०

आत्मा पुरुषार्थ करे तो क्या नहीं होता? बड़े पर्वतों के पर्वत छेद डाले हैं; और कैसे-कैसे विचार करके इसने रेलवे के काम में लिये हैं! यह तो बाहर का काम है, तथापि जय किया है। आत्मा को विचारना, वह कहीं बाहर की बात नहीं है। अज्ञान है, वह मिटे तो ज्ञान होता है।

अनुभवी वैद्य तो दवा देते हैं परन्तु यदि रोगी गले उतारे तो रोग मिटे; इसी प्रकार सद्गुरु अनुभव करके ज्ञान में ज्ञानरूप दवा देते हैं परन्तु मुमुक्षु ग्रहण करनेरूप गले उतारे, तब मिथ्यात्वरूप रोग मिटता है। दो घड़ी पुरुषार्थ करे तो केवलज्ञान हो - ऐसा कहा। रेलवे आदि, चाहे जैसा पुरुषार्थ करे तो भी दो घड़ी में तैयार नहीं होती, तो फिर केवलज्ञान कितना सुलभ है, वह विचार करो।

जो बातें जीव को मन्द कर डालती है, प्रमादी कर डालती है ऐसी बातें सुनना नहीं, उनसे ही जीव अनादि से भटका है। भवस्थिति, काल आदि का अवलम्बन लेना नहीं, वह सब बहाना है।

जीव को संसारी आलम्बन-विशेषताएँ छोड़ना नहीं और खोटे आलम्बन लेकर कहता है कि कर्म के उदय है; इसलिए मुझसे कुछ नहीं हो सकता। ऐसे अवलम्बन लेकर पुरुषार्थ नहीं करता।

www.vitragvani.com

यदि पुरुषार्थ करे और भवस्थिति तथा काल रोके, तब उसका उपाय करूँगा परन्तु प्रथम पुरुषार्थ करना।

सच्चे पुरुष की आज्ञा आराधे, वह भी परमार्थरूप ही है, उसमें लाभ ही होता है, वह व्यापार लाभ का ही है।

जिस मनुष्य ने लाखों रुपयों के सन्मुख मुड़कर देखा नहीं, वह अब हजार के व्यापार में बहाना निकालता है; उसका कारण अन्तर से आत्मार्थ की इच्छा नहीं है। जो आत्मार्थी हुए, वे वापस मुड़कर सन्मुख नहीं देखते, पुरुषार्थ करके सामने आ जाते हैं। शास्त्र में कहा है कि आवरण, स्वभाव, भवस्थिति पके कब ? तो कहते हैं कि पुरुषार्थ करे तब।

पाँच कारण मिले, तब मुक्त होता है; वे पाँचों कारण, पुरुषार्थ में रहे हैं। अनन्त चौथे काल मिले, परन्तु यदि स्वयं पुरुषार्थ करे तो मुक्ति होती है। जीव ने अनन्त काल से पुरुषार्थ ही किया नहीं, सब खोटे अवलम्बन लेकर मार्ग में विघ्न डाला है। कल्याण वृत्ति उगे, तब भवस्थिति पकी जानना। शूरातन हो तो वर्ष का काम दो घड़ी में किया जा सकता है। (पृष्ठ ४३२)

ज्ञानी का वचन पुरुषार्थ प्रेरक होता है, अज्ञानी शिथिल है; इसलिए ऐसे हीन पुरुषार्थ के वचन कहता है। पंचम काल की भवस्थिति या आयुष्य की बात मन में लाना नहीं और ऐसी वाणी भी सुनना नहीं। (पृष्ठ ४१२)

भवस्थिति, पंचम काल में मोक्ष का अभाव आदि शंकाओं से जीव ने बाह्य वृत्ति कर डाली है परन्तु यदि ऐसे जीव, पुरुषार्थ करें और पंचम काल, मोक्ष होने में हाथ पकड़ने आवे, तब उसका

www.vitragvani.com

उपाय हम लेंगे, वह उपाय कोई हाथी नहीं, ज्वाजल्यमान अग्नि नहीं। व्यर्थ ही जीव को भटका दिया है। जीव को पुरुषार्थ करना नहीं, और उसके कारण बहाने निकालना है। यह अपना दोष समझना। समता से वैराग्य की बातें सुनना, विचारना, बाह्य बातें जैसे बने वैसे छोड़ देना। जीव तरने का अभिलाषी हो और सद्गुरु की आज्ञा में वर्ते तो सभी वासनायें पलायमान हो जाती हैं।

(पृष्ठ ४२६-४२७)

जीवों को ऐसा भाव रहता है कि सम्यक्त्व अनायास आता होगा, परन्तु वह तो प्रयास / पुरुषार्थ किये बिना प्राप्त नहीं होता।

(पृष्ठ ४९२)

सत्पुरुष की बात पुरुषार्थ को मन्द करने की नहीं होती; पुरुषार्थ को उत्तेजन देने की होती है। (पृष्ठ ४२८)

पुरुषार्थ करे तो कर्म से मुक्त हो। अनन्त काल के कर्म हों और यदि यथार्थ पुरुषार्थ करे तो कर्म ऐसा नहीं कहते हैं कि मैं नहीं जाऊँगा। दो घड़ी में अनन्त कर्म नाश को प्राप्त होते हैं। आत्मा की पहचान होवे तो कर्म नाश होते हैं। (पृष्ठ ४१७)

(यहाँ दिये गये उद्धरण श्रीमद् राजचन्द्र गुजराती द्वितीय आवृत्ति के हैं।)

www.vitragvani.com

परमात्म भावना

सौराष्ट्र के तीर्थराज गिरनारजी पर श्री नेमिनाथ प्रभु के तीन कल्याणक हुए हैं। गिरनारजी के सहस्त्राव वन में भगवान का दीक्षा कल्याणक हुआ, गिरनार पर ही भगवान, केवलज्ञान को प्राप्त हुए और उस गिरनार की पाँचवीं टोंक से भगवान ने सिद्धि गमन किया। इस प्रकार भगवान के तीन कल्याणकों से पावन हुए श्री गिरनारजी तीर्थ की यात्रा के लिये वीर संवत् २४६६ में पूज्य गुरुदेवश्री संघसहित पधारे थे। उस समय उस गिरनारजी की पाँचवीं टोंक में-निर्वाणभूमि स्थान में डेढ़ घण्टे तक भक्ति चली थी। उसमें पूज्य गुरुदेवश्री ने अध्यात्मभावना में मस्त बनकर 'मैं एक शुद्ध सदा अरूपी... ज्ञानदर्शनमय अरे' - इत्यादि धुन गवायी थी और भक्त उसे झेलते थे। अहो! उस गिरनार की टोंच पर जम गयी धुन और उस समय का शान्त आध्यात्मिक वातावरण... उसके स्मरण अभी भी भक्तजनों के हृदय में गूँज रहे हैं।

बारह वर्ष बाद एक दिन सबेरे इस प्रसंग को याद करके इस गाथा का बारम्बार रटन करते हुए पूज्य गुरुदेवश्री ने कहा था कि यह गाथा गिरनार के शिखर पर बुलवायी थी। जहाँ से श्री नेमिनाथ प्रभु, परमात्मदशा को प्राप्त हुए, वहाँ ही इस परमात्मभावना की धुन गवायी थी। देखो तो सही... परमात्मभावना...

मैं एक शुद्ध सदा अरूपी ज्ञानदर्शनमय अरे
कुछ अन्य हो मेरा जरा परमाणुमात्र नहीं अरे॥

परमात्मा में परमाणु नहीं;

परमाणु में परमात्मा नहीं।

www.vitragvani.com

'मैं' में 'तू' नहीं.....

एक में अनेकता नहीं।

शुद्ध में अशुद्धता नहीं।

सदा अरूपी में कभी रूपीपना नहीं...

ज्ञानदर्शनमय में जरा भी अचेतनपना नहीं।

कुछ अन्य जरा भी-परमाणुमात्र भी मेरा नहीं, अर्थात् निजस्वभाव से ही मेरी पूर्णता है। एक ओर स्वयं चैतन्य परम-आत्मा और दूसरी ओर अचेतन परम-अणु।

अहो! ऐसे परमात्मा को पहचान कर उसकी भावना करने योग्य है।

अन्य कोई शरण नहीं है

देखो, यह जीव करोड़ों रुपये की आमदनीवाला सेठ तो अनन्त बार हुआ है और अनन्त बार ही घर-घर जाकर भीख माँगकर पेट भरनेवाला भिखारी भी हुआ है; आत्मा के भान बिना पुण्य करके बड़ा देव भी अनन्त बार हुआ है और पाप करके नारकी भी अनन्त बार हुआ है परन्तु अभी भी इसे भव-भ्रमण से थकान नहीं लगती है। आचार्यदेव कहते हैं कि भाई! 'अब मुझे भव नहीं चाहिए' - इस प्रकार यदि तुझे भव-भ्रमण से थकान लगी हो तो आत्मा की प्रीति करके उसका स्वरूप समझ! इसके अतिरिक्त अन्य कोई शरण नहीं है। *(पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी)*

www.vitragvani.com

धर्म की बढ़ती धारा

(गुणस्थानवृद्धि अर्थात् धर्मवृद्धि की विधि)

अभेद आत्मस्वभाव के आश्रय से ही वीतरागी धर्म प्रगट होता है, उसके आश्रय से ही धर्म बढ़ता है और उसके आश्रय से ही पूर्णता होती है; इसके अतिरिक्त शरीरादि की किसी क्रिया से या व्रत इत्यादि के शुभपरिणाम से धर्म की शुरुआत नहीं होती, उससे धर्म की वृद्धि भी नहीं होती और पूर्णता भी नहीं होती। धर्म की शुरुआत से लेकर पूर्णता तक अपने शुद्ध आत्मद्रव्य के अतिरिक्त दूसरे किसी का अवलम्बन नहीं है। बीच में साधकदशा में पर के अवलम्बन का भाव आ जाये परन्तु वह धर्म नहीं है – ऐसा धर्मी समझता है।

जब तक निमित्त पर, राग पर, या भेद पर दृष्टि रहती है, तब तक आत्मा का सम्यग्दर्शन नहीं होता। जब निमित्त, राग और भेद इन तीनों की उपेक्षा करके अभेद आत्मस्वरूप के सन्मुख हो, तभी निर्विकल्प सम्यग्दर्शन इत्यादि प्रगट होते हैं। भेद की दृष्टि से निर्विकल्पदशा नहीं होती परन्तु राग होता है; इसलिए जब तक रागादि नहीं मिटते, तब तक भेद को गौण करके अभेद आत्मस्वरूप का निर्विकल्प अनुभव कराया गया है। अभेद की मुख्यता और भेद की गौणता करके स्वभाव की ओर ढलने से शुद्ध आत्मा की प्राप्ति होती है। गुणस्थान की वृद्धि अभेदस्वभाव के आश्रय से ही होती है। यदि दृष्टि में से एक क्षण भी अभेदस्वभाव का आश्रय छूट जाये तो धर्मदशा टिकती नहीं है।

पहले, चौथा गुणस्थान अभेद निर्विकल्प अनुभव से ही प्रगट होता है; तत्पश्चात् चौथा पलटकर पाँचवाँ गुणस्थान भी अभेद –

www.vitragvani.com

–स्वभाव के ही विशेष अनुभव से प्रगट होता है। किसी व्रतादि के शुभपरिणाम से पाँचवाँ गुणस्थान प्रगट नहीं हो जाता, परन्तु अभेदस्वभाव के निर्विकल्प अनुभव से ही चौथा पलटकर पाँचवाँ गुणस्थान प्रगट हो जाता है। तत्पश्चात् आगे बढ़ने पर सातवाँ, आठवाँ, नौवाँ, दसवाँ, बारहवाँ इत्यादि गुणस्थान भी ऐसे ही अभेद अनुभव से प्रगट होते हैं। इस प्रकार अभेदस्वभाव के आश्रय से ही धर्म की धारा चलती जाती है। धर्म के छोटे में छोटे अंश से लेकर पूर्णता तक के जितने प्रकार पड़ें, उन सबमें अभेदस्वभाव का— एक का ही अवलम्बन है। इसके अतिरिक्त भेद का–विकार का या निमित्तों का अवलम्बन, धर्म में कभी है ही नहीं।

सबसे पहले आत्मस्वभाव की जैसी अचिन्त्य महिमा है, वैसी पहचानकर, उस स्वभाव के ही अवलम्बन से निर्विकल्प अनुभव से सम्यग्दर्शनरूप चौथा गुणस्थान प्रगट होता है। वहाँ से धर्म की अपूर्व शुरुआत होती है, अर्थात् साधकभाव शुरु होता है। तत्पश्चात् आगे–आगे की साधकदशा भी उस अभेदस्वभाव के ही निर्विकल्प अनुभव से प्रगट होती है। चौथे गुणस्थान में व्रतादि के बहुत शुभ परिणाम करे, इससे पाँचवाँ गुणस्थान प्रगट हो जाये – ऐसा नहीं है परन्तु आत्मा के अभेदस्वभाव का उग्र अवलम्बन लेने से ही गुणस्थान की वृद्धि होती है। गुणस्थान की वृद्धि कहो, धर्म की वृद्धि कहो, साधकभाव की वृद्धि कहो या मोक्षमार्ग कहो—उसकी विधि एक ही है कि अखण्ड आत्मस्वभाव का अवलम्बन करना। इसलिए शुरुआत से लेकर जब तक रागादि मिटकर केवलज्ञान न हो, तब तक उस अभेदस्वभाव को मुख्य करके उसके ही निर्विकल्प अनुभव का उपदेश श्रीगुरुओं ने किया है।

(श्री समयसार गाथा ७, भावार्थ के प्रवचन में से)

www.vitragvani.com

रत्नत्रय का भक्त

वीर संवत २४७८ के माघ शुक्ल पंचमी के दिन सोनगढ़ में 'श्री गोगीदेवी दिगम्बर जैन श्राविका ब्रह्मचर्याश्रम' का उद्घाटन हुआ। उस समय आश्रम में पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा किया गया यह प्रवचन है। इसमें रत्नत्रय की आराधना का अद्भुत भावभीना वर्णन है... जिसके मनन से आत्मार्थी जीवों को रत्नत्रय की आराधना का उत्साह जगता है। जिसके अन्तर में रत्नत्रय प्रगट हुए हों, उसकी दशा कैसी होती है और वह रत्नत्रय का भक्त कैसा होता है, उस सम्बन्धी सुन्दर विवेचन इस प्रवचन में है।

यह नियमसार भागवत् शास्त्र है, इसका परमभक्ति अधिकार पढ़ा जाता है। भक्ति किसे कहना? अपने ज्ञाता-दृष्टा आत्मस्वभाव की निर्विकल्प श्रद्धा, ज्ञान और रमणता, वह सच्ची भक्ति है; देव -शास्त्र-गुरु इत्यादि पर की भक्ति का भाव, शुभराग है, वह धर्म नहीं है; धर्म तो अपने चिदानन्दस्वरूप आत्मा की दृष्टि और स्वसंवेदन करके उसमें लीन होना ही है और उसे ही भगवान, परम भक्ति कहते हैं। ऐसी भक्ति करनेवाला जीव निरन्तर भक्त है ऐसा २२० वें श्लोक में कहते हैं।

जो जीव, भव-भय के हरनेवाले इस सम्यक्त्व की, शुद्ध ज्ञान की और चारित्र की भव-छेदक अतुलभक्ति निरन्तर करता है, वह काम-क्रोधादि समस्त दुष्ट पापसमूहों से मुक्त चित्तवाला जीव, श्रावक हो या संयमी हो-निरन्तर भक्त है... भक्त है...।

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव और पद्मप्रभमलधारि मुनिराज महा अध्यात्म की मूर्ति थे, अमृत के कन्द थे; वे अभी स्वर्ग में

www.vitragvani.com

बिराजमान हैं, वहाँ से मनुष्य होकर केवलज्ञान प्रगट करके मुक्त हो जायेंगे। वे कहते हैं कि अहो! श्रमण हो या श्रावक हों, उसे शुभ या अशुभराग के समय द्रव्यदृष्टि की मुख्यता हटती नहीं है, प्रतिक्षण स्वभाव की दृष्टि से उन्हें रत्नत्रय की भक्ति वर्तती है, इसलिए वे भक्त हैं, भक्त हैं। धर्मी श्रावक को भी निरन्तर रत्नत्रय की भक्ति होती है; राजपाट हो, गृहस्थाश्रम हो, स्त्रियाँ हों, तथापि अन्दर में उस धर्मी को भान है कि मैं तो चिदानन्दमूर्ति हूँ। शुद्ध चिदानन्द स्वरूप की मुख्यता उसकी दृष्टि में से एक समय भी छूटती नहीं है - ऐसा धर्मी जीव, रत्नत्रय का भक्त है। दृष्टि में शुद्धद्रव्य की मुख्यता छूटकर एक क्षण भी पर्याय की या निमित्त की मुख्यता हो जाये तो मिथ्यात्व हो जाता है। शुद्धस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञानरूप भक्ति, धर्मी जीव को एक क्षण भी छूटती नहीं है।

मेरा ज्ञानानन्दस्वभाव है, उसमें गुण-गुणी के भेद का विकल्प भी मेरा (स्वभाव) नहीं है - ऐसा शुद्ध आत्मा का भान करना, वह पहली अपूर्व भक्ति है। जो श्रावक ऐसा भान करता है, वही भक्त है। शुद्धरत्नत्रय से मुक्ति होती है और राग से तो बन्धन होता है। निचलीभूमिका में भगवान की भक्ति, गुरु की भक्ति इत्यादि का शुभभाव आता है परन्तु ज्ञानी उसे आस्रव समझते हैं, वह निश्चय से परमभक्ति नहीं है; निश्चय से परमभक्ति तो अपने शुद्ध परमात्मा का भजन करना ही है।

परमात्मतत्त्व के आश्रय से जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप पर्याय प्रगट होती है, वह भव-भय का नाश करनेवाली भक्ति है। इसके अतिरिक्त निमित्त से या राग से आत्मा को लाभ माने तो वह

www.vitragvani.com

मिथ्यात्व है; भेद का विकल्प उठे, वह भी राग है; भेद का भी लक्ष्य छोड़कर, अभेद ज्ञान-आनन्दस्वभाव की भक्ति करना, अर्थात् उसका आश्रय करके उसमें तन्मय होना, वह निश्चयभक्ति है। जहाँ ऐसी भक्ति होती है, वहाँ देव-गुरु की भक्ति के शुभराग को व्यवहारभक्ति कहा जाता है। सर्वज्ञ के मार्ग में जो शुद्धरत्नत्रय को भजे, उसे भक्त कहा है। जो जीव, रत्नत्रयस्वरूप परिणमित हुआ, वह रत्नत्रय का भक्त है।

शुद्ध आत्मा की श्रद्धा करके, रागरहित स्वसंवेदन से अपने आत्मा को ही स्वज्ञेय बनाकर जो जानता है, उसे रत्नत्रय की भक्ति है। गृहस्थी हो या मुनि हो — जिसे अपने शुद्ध आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र की भक्ति है, वही सच्चा भक्त है। वह भक्ति कैसी है ? भव की छेदक है। इसके अतिरिक्त आत्मा के भान बिना साक्षात् भगवान के समीप जाकर भक्ति करे और उससे कल्याण हो जायेगा - ऐसा माने, उसे भक्त नहीं कहते और उसकी भक्ति से भव का छेद नहीं होता।

चिदानन्द भगवान आत्मा में भव नहीं - उसकी भक्ति है, वह भव छेदक है। चैतन्यस्वभाव को चूककर, विकार जितना अपने को मानना, वह मिथ्यात्व का भजन है, और वह भव का कारण है। मैं तो त्रिकाल ज्ञान, आनन्दस्वरूप हूँ; एक समय का क्षणिक विकार, वह मैं नहीं - ऐसी श्रद्धा, ज्ञान, रमणतारूप निज शुद्धात्मा की जो भक्ति है, वह भव का नाश करनेवाली है।

अन्तर में ऐसी शुद्धरत्नत्रयदशा प्रगट हो, तब मुनिपना होता है। मुनिपना, परमेष्ठीपद है। जो आत्मा के परम आनन्द में स्थिर हुए हैं,

www.vitragvani.com

वे परमेष्ठी हैं। भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव महामुनिराज भावलिङ्गी सन्त थे; अपने अन्तर के अनुभव में सिद्ध भगवान जैसे आनन्द का प्रचुर अनुभव वे करते थे; जैसा अनुभव में आया, वैसा ही वस्तुस्वरूप उन्होंने कहा है। स्वभाव के आनन्द की मस्ती में झूलते-झूलते बीच में शुभविकल्प उत्पन्न होने पर इस शास्त्र की रचना हो गयी है। सन्त-मुनि तो शब्द के या राग के भी कर्ता नहीं हैं। चिदानन्दस्वभाव के भानपूर्वक उसकी रमणता में झूलते हुए यह शास्त्र रच गया, इसके वे ज्ञाता हैं। टीकाकार श्री पद्मप्रभमल-धारिदेव भी महाभावलिङ्गी सन्त थे। अन्तर में सद्चिदानन्द परमात्मा का अनुभव करते-करते यह टीका रच गयी है। उसमें इस कलश में भक्ति का स्वरूप कहा है कि जो जीव, विकार से रहित होकर शुद्धरत्नत्रय को निरन्तर भजता है-आराधता है, वही भक्त है।

भगवान की भक्ति में कषाय की मन्दता का भाव, वह शुभभाव है; उसमें धर्म नहीं, किन्तु पुण्य है। शब्द बोले जाये या हाथ जुड़े -इत्यादि देह की क्रिया है, उससे तो पुण्य भी नहीं है, वह तो जड़ है। देह से भिन्न और राग से पार चिदानन्दस्वभावी आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान-रमणता, धर्म है और वही परमभक्ति है।

यहाँ शुद्धरत्नत्रय की 'अतुल भक्ति' की बात उठी है। 'अतुल भक्ति' कहकर व्यवहार का और राग का निषेध बतलाया है। स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय की जो भक्ति है, वह ऐसी अतुल है कि किसी के साथ उसकी तुलना नहीं हो सकती। उसे किसी राग की या व्यवहार की उपमा नहीं दी जा सकती; और कहा है कि रत्नत्रय की अतुल भक्ति निरन्तर करता है, अर्थात्

www.vitragvani.com

स्वभाव के आश्रय की मुख्यता एक समय भी टूटती नहीं। स्वभाव का जितना अवलम्बन वर्तता है, उतनी रत्नत्रय की भक्ति निरन्तर वर्तती है। सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा को भी निश्चयस्वभाव की मुख्यता, क्षणमात्र कभी छूटती नहीं; इसलिए उसे निरन्तर सम्यग्दर्शनादि की भक्ति है। मुनिराज कहते हैं कि अहो! शुद्धरत्नत्रय की भक्ति करनेवाले वे श्रावक तथा श्रमण भक्त हैं... भक्त हैं। दो बार भक्त हैं - ऐसा कहकर अपना प्रमोद प्रगट किया है।

भगवान! तेरा आत्मा ही परमात्मा है। परमात्मपद तेरी आत्मशक्ति में भरा है। उसकी श्रद्धा-ज्ञान करके, उसमें लीन हो, वही परमभक्ति है। ऐसी निश्चयभक्ति के भानसहित सम्यग्दृष्टि श्रावक भी तीर्थङ्कर भगवान की भक्ति करते हैं। एकावतारी इन्द्र और इन्द्राणियाँ भी भगवान के समीप भक्ति से घनघन करते हुए बालक की तरह नाच उठते हैं, परन्तु उस समय भी अन्दर में शुद्ध ज्ञानानन्दस्वभाव की दृष्टि छूटती नहीं है। नन्दीश्वरद्वीप में शाश्वत् जिनबिम्ब हैं, वहाँ जाकर इन्द्र इत्यादि समकिती भी भक्ति से नाच उठते हैं, वह व्यवहारभक्ति है और अन्दर में शुद्धस्वभाव की दृष्टि पड़ी है, वह निश्चयभक्ति है।

लोक में भी कहते हैं कि शक्तिमान को भजो। ध्रुव कारण -परमात्मा ही परम शक्तिमान है, परमात्मपद देने की शक्ति उसमें ही पड़ी है; उसके अतिरिक्त किसी पर में-निमित्त में, राग में या पर्याय में ऐसी ताकत नहीं है कि वह परमात्मपद को दे; इसलिए अपने ध्रुव चिदानन्द कारणपरमात्मा को ही ध्येयरूप करके उस पर दृष्टि की नजर लगाने का नाम शक्तिमान का भजन है और वही

www.vitragvani.com

वास्तविक भक्ति है। मैं एक समय में परिपूर्ण परमात्मा हूँ - ऐसी शक्ति का अन्तर परिणमन हुआ, उसमें धर्मी को एक समय भी विरह नहीं पड़ता; बाहर में विषयादि के अशुभराग के समय भी वैसी दृष्टि निरन्तर रहती है। ऐसी दृष्टिवाला जीव, रत्नत्रय का भक्त है। यदि एक क्षण भी ऐसी भक्ति करे तो अल्पकाल में मुक्ति हुए बिना नहीं रहे।

जो जीव, चैतन्यमहिमा में लीन होकर शुद्धरत्नत्रय की अतुल भक्ति करता है, वह समस्त विषय-कषाय से विमुक्त चित्तवाला जीव, भक्त है; उसके अन्दर की रत्नत्रय की भक्ति भव-भय का नाश करनेवाली है। जिसने चिदानन्द परमात्मतत्त्व की भक्ति की, उसकी रुचि करके आराधना की, उसे विषयों की या विकार की रुचि रहती ही नहीं। परिणति जहाँ स्वभाव में अन्तर्मुखरूप से परिणमित हो गयी, वहाँ बाहर के द्रव्य, क्षेत्र आदि से विमुखता हो गयी - इस प्रकार विषय-कषाय से विमुक्त चित्तवाला जो जीव, शुद्धरत्नत्रय की भक्ति करता है, वह जीव निरन्तर भक्त है... भक्त है, फिर भले वह श्रावक हो या मुनि हो।

श्री मुनिराज प्रमोद प्रसिद्ध करते है कि अहो! चिदानन्द परमात्म-तत्त्व की श्रद्धा करके जो उसकी आराधना करता है, वह जीव निरन्तर भक्त है-भक्त है; उसे हिलते-चलते, खाते-पीते निरन्तर चैतन्य का भजन वर्तता है। श्रावक को कदाचित् लड़ाई इत्यादि के जरा अशुभभाव आ जायें तो उस समय भी दृष्टि में से शुद्ध चैतन्यतत्त्व का अवलम्बन उसे छूटता नहीं है; इसलिए कहा कि वह निरन्तर भक्त है, भक्त है।

www.vitragvani.com

अब, निश्चय भक्ति के साथ धर्मी को व्यवहारभक्ति भी कैसी होती है - वह बतलाते हैं।

जो मुक्तिगत हैं उन पुरुष की भक्ति जो गुणभेद से,
करता, वही व्यवहार से निर्वाणभक्ति वेद रे॥१३५॥

सिद्ध जैसे अपने शुद्धात्मा की अभेदभक्ति, वह निश्चयभक्ति है और अपने से भिन्न ऐसे सिद्ध परमात्माओं की भक्ति, वह व्यवहारभक्ति है।

जो जीव, मोक्षगत पुरुषों का गुणभेद जानकर, उनकी भी परमभक्ति करता है, उस जीव को व्यवहारनय से निर्वाणभक्ति है। जिसे शुद्ध चैतन्यस्वभाव का भान है परन्तु अभी पूर्ण वीतरागता नहीं हुई, वह जीव, शुभराग के समय सिद्धभगवान के गुणों को लक्ष्य में लेकर भक्ति करता है। अपना आत्मा सिद्ध जैसा है - ऐसे भानपूर्वक उसमें लीनता, वह निश्चयभक्ति है और वहाँ सिद्धभगवान की भक्ति का भाव, वह व्यवहारभक्ति है।

मोक्ष, अर्थात् आत्मा की परिपूर्ण ज्ञान-आनन्दमय निर्विकारी पर्याय; और संसार, अर्थात् एक समयमात्र का विकारी भाव। स्वभाव की श्रद्धा, ज्ञान, रमणतारूप शुद्धरत्नत्रय से जो मुक्ति को प्राप्त हुए - ऐसे मोक्षगत सिद्धभगवन्तों के गुण को पहचानकर उनकी भक्ति भी श्रावक और श्रमण करते हैं। श्रावक और श्रमण स्वयं शुद्धरत्नत्रय के आराधक हैं; इसलिए पूर्व में शुद्धरत्नत्रय को आराधकर जो मुक्ति प्राप्त हुए, उनका भी आदर-बहुमान करते हैं। यहाँ सिद्धभगवान की बात की है, उसके साथ अरहन्त भगवान इत्यादि की बात भी समझ लेना चाहिए।

www.vitragvani.com

अभी श्री सीमन्धर भगवान इत्यादि तीर्थङ्कर और लाखों केवल-ज्ञानी भगवन्त, महाविदेहक्षेत्र में विराज रहे हैं; अनन्त सिद्ध भगवन्त लोक के शिखर पर विराज रहे हैं; वे अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य, अनन्त सुख इत्यादि गुणोंसहित हैं। उन्हें पहचानकर, उनके बहुमान इत्यादि का भाव, वह व्यवहार से निर्वाणभक्ति है।

देखो, आज इस आश्रम के माङ्गलिक में आत्मा की भक्ति आयी तथा सिद्धभगवान की भक्ति भी आयी। यहाँ व्यवहार की प्रधानता से सिद्धभक्ति का कथन है, परन्तु सिद्धभगवान की भक्ति को व्यवहार से निर्वाणभक्ति कही, इससे ऐसा नहीं समझना कि वह मोक्षमार्ग है। मोक्षमार्ग तो स्वभाव के आश्रय से जो निश्चय-रत्नत्रय प्रगटे, वही है। बीच में राग आवे, वह वास्तव में मोक्षमार्ग नहीं है। धर्मी को शुद्धस्वभाव का भान है और राग भी होता है परन्तु वहाँ वह समझता है कि यह राग मेरा स्वभाव नहीं है और इसके आश्रय से मेरा मोक्षमार्ग नहीं है, तथापि राग के समय सिद्ध भगवान के प्रति भक्ति का उल्लास भी आये बिना नहीं रहता। इस प्रकार निश्चय-व्यवहार की सन्धि है।

सिद्ध भगवान किस प्रकार सिद्धि को प्राप्त हुए?

यहाँ सिद्धभगवान की भक्ति की बात करते हुए, वे सिद्ध-भगवन्त किस प्रकार सिद्धि को प्राप्त हुए? - यह पहचान भी कराते हैं। पुराण पुरुष समस्त कर्मक्षय के उपाय के हेतुभूत कारणपरमात्मा को अभेद-अनुपचार-रत्नत्रयपरिणति से सम्यक्रूप से आराध कर सिद्ध हुए... अनादि काल से इस प्रकार से जीव, सिद्ध होते ही आते हैं। यही पहले शुद्धरत्नत्रय द्वारा अपने

www.vitragvani.com

कारणपरमात्मा को आराध-आराध कर अनन्त तीर्थंकर, केवली भगवन्त तथा गणधर आदि मुनिवर, सिद्ध हो गये हैं। महाविदेहक्षेत्र में मोक्ष का मार्ग कभी बन्द नहीं होता, वहाँ सदा ही जीवों को मोक्ष हुआ ही करता है। किस प्रकार ? शुद्धरत्नत्रय द्वारा कारणपरमात्मा की आराधना से।

कोई जीव, कुलपरम्परा इत्यादि का आग्रह करके व्यवहार के आश्रय से धर्म मानते हों तो यहाँ कहते हैं कि अरे भाई! तेरी कुल परम्परा सच्ची या अनन्त सिद्ध भगवन्त हो गये, उनकी परम्परा सच्ची ? जो अनन्त पुराण पुरुष, मोक्ष को प्राप्त हुए, वे कोई व्यवहार के या भेदरत्नत्रय के आश्रय से मोक्ष को प्राप्त नहीं हुए परन्तु वे तो अभेदरत्नत्रय द्वारा शुद्ध आत्मा को ही आराधकर मुक्ति को प्राप्त हुए हैं; इसलिए तीर्थंकरों के कुल में तो यही एक मुक्तिमार्ग है; अत: तू दूसरा उपाय कहाँ से लाया ?

अनन्त सन्त, सिद्धि को प्राप्त हुए — वे किस प्रकार प्राप्त हुए ? शुद्ध कारणपरमात्मा को अभेदरत्नत्रयपरिणति से आराधकर वे सिद्धि को प्राप्त हुए हैं। तीनों काल यह एक ही सिद्धि का उपाय है—'एक होय तीन काल में परमारथ का पंथ।' आत्मा की आराधना, आत्मा की प्रसन्नता, आत्मा की कृपा, आत्मा की भक्ति, आत्मा की सिद्धि — वह शुद्धरत्नत्रय द्वारा ही होती है; रागादि द्वारा नहीं होती। शुद्धरत्नत्रय परिणति से अन्तरस्वरूप में ढल गये-झुक गये-नम गये-प्रणम गये, इसी विधि से सब सिद्धभगवन्त सिद्धि को प्राप्त हुए हैं। अन्दर में रागरहित शुद्धरत्नत्रय द्वारा आत्मस्वभाव की आराधना करना, वह एक ही तीनों काल में मोक्षमार्ग है और

www.vitragvani.com

सत्समागम से स्वभाव का बहुमान इत्यादि का अभ्यास करना, वह व्यवहार है।

यहाँ रत्नत्रयपरिणति द्वारा शुद्ध कारणपरमात्मा की आराधना करने को कहा है। कारणपरमात्मा अर्थात् क्या ? त्रिकाली शक्ति से परिपूर्ण द्रव्य, वह कारणपरमात्मा है और वर्तमान केवलज्ञानादि पूर्ण पर्याय प्रगट हो, वह कार्यपरमात्मा है। वह पूर्ण कार्य प्रगट होने के कारणरूप सामर्थ्य, द्रव्य में त्रिकाल है। एक समय की पर्याय को गौण करके जो पूर्ण सामर्थ्यरूप वर्तमान तत्त्व है, उसे ही कारणपरमात्मा कहा जाता है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्विकल्प पर्याय या परमात्मपर्याय प्रगट हो, वह कार्य है। वह कार्य, ध्रुव आत्मद्रव्य में से आता है; इसलिए उस ध्रुव द्रव्यस्वभाव को कारणपरमात्मा कहा है; वह सदा काल एकरूप परिपूर्ण है।

मोक्षमार्ग की पर्याय को मोक्ष का कारण कहना, वह व्यवहार से है। वस्तुतः कहीं मोक्षमार्ग की पर्याय में से मोक्षपर्याय नहीं आती; मोक्षपर्याय तो आत्मद्रव्य में से आती है; इसलिए ध्रुव आत्मा ही मोक्ष का निश्चय कारण है। उसे ही नियमसार में कारणपरमात्मा कहकर खूब गाया है। सम्यग्दर्शन से लेकर सिद्धदशा तक की सभी पर्यायें उस ध्रुव कारणपरमात्मा के अवलम्बन से प्रगट होती है। उसकी परम महिमा करके, उसका अवलम्बन लेना ही परमार्थ भक्ति है और वही मोक्षमार्ग है।

जो 'शुद्ध कारणपरमात्मा' कहलाता है, वह सिद्धभगवान की ही बात नहीं परन्तु सभी आत्माएँ वैसे हैं। सिद्धभगवान का त्रिकाली द्रव्य, वह उनका कारणपरमात्मा है तथा उसके आश्रय से उन्हें जो

www.vitragvani.com

शुद्धपर्याय प्रगट हुई, वह उनका कार्यपरमात्मा है; इसी प्रकार इस आत्मा का ध्रुवस्वभाव है, वह अपना कारणपरमात्मा है और उसका आश्रय करने पर केवलज्ञानदशा प्रगट हो जाये, वह अपना कार्यपरमात्मा है – इस प्रकार अपना शुद्ध कारणपरमात्मा ही परमात्मदशा का परम कारण है; इसके अतिरिक्त बाहर के किसी कारण से परमात्मदशा प्रगट नहीं होती।

जगत में सिद्ध भगवन्त अनादि से हैं और सिद्धि का उपाय भी अनादि से है। छह महीने और आठ समय में छह सौ आठ जीव मोक्ष में जाते हैं – ऐसा क्रम निरन्तर चला ही करता है। अभी इस भरतक्षेत्र में मोक्ष नहीं है परन्तु महाविदेह में से छह महीने और आठ समय में छह सौ आठ जीव मोक्ष में जाते हैं। वे अपना शुद्ध कारणपरमात्मा को श्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूप अभेदरत्नत्रय परिणति से आराधकर ही सिद्ध होते हैं।

निज शुद्ध आत्मा के अवलम्बन से जो शुद्धरत्नत्रयपरिणति प्रगट हुई, उसके द्वारा कारणपरमात्मा की भक्ति कर-करके पुराण पुरुष, सिद्धि को प्राप्त हुए हैं, वर्तमान में भी यही उपाय है और भविष्य में भी सिद्धि का यही उपाय है। निमित्त से, राग से, या भेदरत्नत्रय से भी तीन काल में मुक्ति नहीं होती। चैतन्यस्वरूप की भावना करते-करते उसमें रागरहित लीनता हो जाये, उसका नाम अनुपचार रत्नत्रय है और उससे ही मुक्ति होती है।

तीर्थङ्कर नामकर्म के कारणरूप जो सोलहकारणभावना का भाव है, वह भी वास्तव में आस्रव है, धर्म नहीं। प्रथम तो दर्शनशुद्धि के बिना अज्ञानी को सोलहकारणभावना ही यथार्थ नहीं होती,

www.vitragvani.com

सोलहकारणभावना ज्ञानी को ही होती है परन्तु ज्ञानी उस भाव को आदरणीय नहीं मानते; ज्ञानी तो जानते हैं कि शुद्धरत्नत्रय द्वारा निज कारणपरमात्मा को आराधना, वही सिद्धि का उपाय है।

परमात्मदशा कहाँ से प्रगट होती है ? अन्दर में प्रत्येक आत्मा परमात्मशक्ति से परिपूर्ण है, उसमें से ही परमात्मदशा प्रगट होती है। जैसे छोटी पीपर को घिसने से चौंसठ पहरी चरपराहट प्रगट होती है, वह कहाँ से प्रगट होती है ? खरल में से प्रगट नहीं होती परन्तु उसमें जो चौंसठ पहरी चरपराहट शक्तिरूप से थी, वही प्रगट हुई है; बाहर से नहीं आयी तथा एक से लेकर त्रेसठ पहरी तक की चरपराहट में से भी चौंसठ पहरी चरपराहट नहीं आयी है। उस अपूर्ण चरपराहट का तो अभाव होकर पीपर की सामर्थ्य में से ही पूर्ण चरपराहट आयी है। चूहे की लीदी भी छोटी पीपर जैसी लगती है परन्तु उसे घिसने पर उसमें से चरपराहट प्रगट नहीं होती, क्योंकि उसमें वैसा स्वभाव नहीं है। छोटी पीपर में स्वभाव है, उसमें से ही चरपराहट प्रगट होती है, वह किसी संयोग के कारण नहीं है। इसी प्रकार आत्मा परिपूर्ण परमात्मशक्ति से भरपूर है, उसकी श्रद्धा-ज्ञान एकाग्रता द्वारा उसमें से परमात्मदशा प्रगट होती है परन्तु शरीरादि को घिस डालने से परमात्मदशा प्रगट नहीं होती, क्योंकि उनमें वैसा स्वभाव नहीं है; तथा अपूर्णदशा में से भी पूर्णदशा नहीं आती। ध्रुवस्वभाव त्रिकाल भरा है, उसके ही अवलम्बन से अपूर्णदशा का व्यय होकर पूर्ण परमात्मदशा प्रगट हो जाती है।

इस प्रकार शुद्ध आत्मा की आराधना ही सिद्धि का उपाय है, इस उपाय से ही भूतकाल में अनन्त सिद्ध हुए, वर्तमान में इस

www.vitragvani.com

उपाय से ही सिद्ध होते हैं और भविष्य में इस उपाय से ही सिद्ध होंगे; सिद्धि का दूसरा उपाय नहीं... नहीं है।

मेरी परिपूर्ण परमात्मदशा मेरे आत्मा में से ही प्रगट होनेवाली है – ऐसी पहचान बिना धर्म नहीं होता। वस्त्र लेने जाये या सब्जी इत्यादि लेने जाये तथा सोना या हीरा-माणिक लेने जाये तो वहाँ उसे पहले पहचानता है। इसी प्रकार धर्म करने के लिये पहले पहचानना तो चाहिए न कि धर्म कहाँ से निकलता है? सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र, इन तीन चैतन्य रत्न द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होती है। कारणपरमात्मा में दृष्टि, उसका ज्ञान और उसमें एकाग्रता करके जो जीव, रत्नत्रय की भक्ति करता है, वह निर्वाण का भक्त, अर्थात् मोक्ष का उपासक है और वह परमात्मदशा को पाता है। ऐसे उपाय से अनन्त सिद्ध भगवन्त मुक्त हुए, उन्हें पहचानकर उनकी भक्ति करना, निर्वाण के परम्परा हेतुभूत व्यवहारभक्ति है, परन्तु अन्दर में निज परमात्मस्वभाव की आराधनारूप निश्चयभक्ति वर्तती है, तब उसे व्यवहारभक्ति कहते हैं।

जो आसन्न भव्य जीव अपने स्वभाव में अन्तर्मुख होकर शुद्धरत्नत्रय प्रगट करता है, उसे व्यवहारभक्ति है और वह भक्ति, मुक्ति का कारण है।

www.vitragvani.com

मुमुक्षु को सेवनयोग्य दो साधन

आत्मस्वभाव की निर्मलता होने के लिये मुमुक्षु जीव को दो साधन अवश्य सेवन योग्य है – सत्श्रुत और सत् समागम। प्रत्यक्ष सत् पुरुषों का समागम क्वचित् जीव को प्राप्त होता है, परन्तु यदि जीव, सत्दृष्टिवान हो तो सत्श्रुत के बहुत काल के सेवन से होनेवाला लाभ प्रत्यक्ष सत्पुरुष के समागम से बहुत अल्प काल में प्राप्त कर सकता है। क्योंकि प्रत्यक्ष गुणातिशयवान निर्मल चेतन के प्रभाववाले वचन और वृत्ति क्रिया चेष्टितपना है। जीव को वैसा समागम योग प्राप्त हो, ऐसा विशेष प्रयत्न कर्तव्य है। वैसे योग के अभाव में सत्श्रुत का परिचय अवश्यरूप से करने योग्य है। जिसमें शान्तरस का मुख्यपना है, शान्तरस के हेतु से जिसका समस्त उपदेश है, सर्व रस शान्त रसगर्भित जिसमें वर्णन किये हैं — ऐसे शास्त्र का परिचय, वह सत्श्रुत का परिचय है।

(श्रीमद् राजचन्द्र)

भव-भ्रमण का भय लगे तो

अरे रे! जिसे चौरासी के अवतार का डर नहीं है, वह जीव आत्मा को समझने की प्रीति नहीं करता। अरे! मुझे अब चौरासी के अवतार का परिभ्रमण किस प्रकार मिटे? – ऐसा अन्दर में भव-भ्रमण का भय लगे तो आत्मा की दरकार करके सच्ची समझ का प्रयत्न करे।

(पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी)

www.vitragvani.com

श्रीमद् राजचन्द्र का एक पत्र

अनन्त काल से स्वयं को स्वयं के विषय में ही भ्रान्ति रह गयी है; यह एक अवाच्य-अद्भुत विचारणीय स्थल है। जहाँ मति की गति नहीं, वहाँ वचन की गति कहाँ से हो?

निरन्तर उदासीनता के क्रम का सेवन करना; सत्पुरुष की भक्ति के प्रति लीन होना, सत्पुरुषों का चरित्रस्मरण करना, सत्पुरुषों के लक्षणों का चिन्तन करना, सत्पुरुषों की मुखाकृति का हृदय से अवलोकन करना, उनकी मन-वचन-काया की प्रत्येक चेष्ठा के अद्भुत रहस्य बारम्बार निधिध्यासन करना; उनके द्वारा सम्मत किया सर्वसम्मत करना।

यह ज्ञानियों के हृदय में रखा हुआ, निर्वाण के अर्थ मान्य रखने योग्य, श्रद्धा करने योग्य, बारम्बार चिन्तवन करने योग्य, प्रतिक्षण-प्रतिसमय लीन होने योग्य परम रहस्य है और यही सर्व शास्त्र का, सर्व सन्तों के हृदय का, ईश्वर के घर का मर्म प्राप्त करने का महामार्ग है और इस सबका कारण कोई विद्यमान सत्पुरुष की प्राप्ति तथा उनके प्रति अविचल श्रद्धा है। अधिक क्या लिखना? आज, चाहे तो इससे देरी से अथवा पहले यही सूझे, यही प्राप्त होने पर छुटकारा है, सर्व प्रदेश में मुझे तो यही सम्मत।

(आवृत्ति दूसरी, पत्र १००वाँ पृष्ठ १६९)

श्रीमद् राजचन्द्रजी के इस पत्र पर पूज्य गुरुदेवश्री का विवेचन आगामी प्रकरण में है।

www.vitragvani.com

आत्मस्वभाव में अभेददृष्टि ही ज्ञानियों को सम्मत

श्रीमद् राजचन्द्रजी एक पत्र में लिखते हैं कि ज्ञानियों ने सम्मत किया हुआ सब सम्मत करना। ज्ञानियों को क्या सम्मत है? आत्मस्वभाव में अभेददृष्टि ही सर्व ज्ञानियों को सम्मत है। इसके अतिरिक्त किसी राग से धर्म होता है अथवा शरीर की क्रिया आत्मा करता है, यह बात किसी ज्ञानी को सम्मत नहीं है।

'अनन्त काल से अपने को, अपने सम्बन्ध में ही भ्रान्ति रह गयी है।' यह श्रीमद् का तेईसवें वर्ष का लेख है। आत्मा अनन्त काल से है और इस शरीर का सम्बन्ध नया हुआ है किन्तु आत्मा नया नहीं होता। आत्मा स्वयं कौन है? – इस बात का उसे अनन्त काल से पता नहीं है। मैं कौन हूँ और मेरा स्वरूप क्या है? – इस सम्बन्ध में ही भ्रान्ति रह गयी है। मानो मेरा सुख बाहर में हो – ऐसा यह मानता है; इसलिए अपने विषय में ही भ्रान्ति है। देखो! देव-शास्त्र-गुरु के विषय में भ्रान्ति रह गयी है – ऐसा नहीं कहा है, क्योंकि सच्चे देव-शास्त्र-गुरु को माना है परन्तु अपने आत्मा के विषय में रही हुई भ्रान्ति का अभाव नहीं किया है। देखो, पर के विषय में भ्रान्ति रह गयी है – ऐसा भी नहीं कहा गया है परन्तु स्व कौन है? इस विषय में भ्रान्ति रह गयी है।

यह जीव, निज आत्मा को भूलकर पर से लाभ मान रहा है; इसलिए उपादानस्वभाव में भ्रान्ति रह गयी है किन्तु निमित्त में भूल रह गयी है – ऐसा नहीं है। दूसरे प्रकार से कहें तो व्यवहार के

www.vitragvani.com

सम्बन्ध में तो भूल का अभाव किया, किन्तु आत्मा का स्वभाव क्या है ? यह नहीं जाना; इसलिए निश्चय सम्बन्धी भूल का कभी अभाव नहीं किया। अज्ञानी जीव, पुण्य को आत्मा का स्वरूप माने तो वह भी आत्मा के विषय में भ्रान्ति है। जीव ने अनन्त काल में दूसरा सब किया है परन्तु आत्मा का स्वभाव क्या है ? – इस विषय में भ्रान्ति का अभाव कभी नहीं किया; इसलिए अपने विषय में ही भ्रान्ति रह गयी है।

स्वयं अर्थात् कौन ? देखो, अपने को विकारवाला माना – यह भी भ्रान्ति है क्योंकि आत्मा, क्षणिक विकार जितना नहीं है; उसका स्वभाव तो विकाररहित है, उस स्वभाव के विषय में भ्रान्ति रह गयी है। जीव ने अनन्त बार शुभभाव किया है किन्तु भ्रान्तिरहित होकर शुद्धात्मा को कभी नहीं जाना है।

यह एक अवाच्य अद्भुत विचार का स्थल है। वाणी से नहीं कहा जा सके – ऐसा अद्भुत विचार का यह स्थल है। यहाँ आत्मस्वभाव के विचार की अपूर्वता बतलायी जा रही है। ऐसा क्या बाकी रह गया कि अनन्त-अनन्त काल व्यतीत होने पर भी भ्रान्ति का अभाव नहीं हुआ ? अनन्त काल में त्याग-व्रत इत्यादि किया, परन्तु आत्मस्वभाव की विचारधारा का स्थल बाकी रह गया। अपने को अपने विषय में क्या भ्रान्ति रह गयी ? – यह एक अद्भुत विचार का स्थल है।

भाई ! जीव, दूसरे सब विचारों में तो चतुराई करता है परन्तु आत्मा का यथार्थ विचार कभी नहीं करता। पहले आत्मस्वभाव की बात करके फिर उसके निमित्त भी बतलायेंगे और अनन्त

www.vitragvani.com

काल की यह भ्रान्ति कैसे मिटे ? - उसका उपाय भी बताएँगे।

'जहाँ मति की गति नहीं है, वहाँ वचन की गति कैसे हो सकती है ?' यहाँ मति अर्थात् पर सन्मुख ढला हुआ ज्ञान। पर तरफ के विकल्प द्वारा भी जो आत्मा को नहीं बतलाता, उस आत्मा को वाणी से तो कैसे कहा जा सकता है ? मति अर्थात् पर तरफ के ज्ञान का उघाड़ अथवा पर तरफ के झुकाववाला ज्ञान - ऐसा अर्थ यहाँ समझना चाहिए। सम्यक्मतिज्ञान द्वारा तो आत्मा ज्ञात होता है परन्तु परसन्मुखता के झुकाववाले ज्ञान के विकास से आत्मा ज्ञात नहीं होता है। इस प्रकार पहले तो उपादानस्वभाव की बात की और अब, अनन्त काल से चली आ रही उस भ्रान्ति को मिटाने के लिए अन्तर-स्वभावसन्मुख झुकने के लिए क्या करना चाहिए ? - यह बात कहते हैं।

'निरन्तर उदासीनता के क्रम का सेवन करना।' देखो, यहाँ 'निरन्तर' कहा है। जैसे, बादाम में से तेल निकालना हो तो उसे निरन्तर घिसना चाहिए। थोड़ी से घिसकर फिर दूसरे काम में लग जाए और फिर घिसने लगे; इस प्रकार क्रम-क्रम से घिसे तो तेल नहीं निकलेगा। इसी प्रकार यहाँ निरन्तर उदासीनता के क्रम का सेवन करने के लिए कहा है। पर के प्रति कुछ रुचि घटे, तब तो अन्तर के विचार की ओर ढलेगा न! पर के प्रति वैराग्यदशा लाकर अन्तर की विचारधारा में निरन्तर रुकना चाहिए।

यहाँ निरन्तर पर के प्रति उदासीनता का सेवन करने के लिए कहा तो क्या खाना-पीना इत्यादि कुछ नहीं करना ? यदि ऐसा कोई पूछे तो उससे कहते हैं कि भाई! जिस प्रकार व्यापार का लोलुपी

www.vitragvani.com

जीव सो रहा हो या खा रहा हो, परन्तु साथ ही साथ उसे लोलुपता का भाव तो पड़ा ही है; इसी प्रकार धर्म की रुचिवाले को नींद में भी पर के प्रति उदासीनता का भाव मिटता नहीं है। धर्म की रुचिवाला उदासीनता के क्रम में भङ्ग नहीं पड़ने देता; खाना-पीना अथवा व्यापार इत्यादि का राग वर्तता होने पर भी अन्तर की रुचि में उसके प्रति उदासीनता एकक्षण के लिए भी नहीं मिटती है।

अब, भ्रान्ति टालने के निमित्त की पहचान कराते हुए कहते हैं कि **'सत्पुरुष की भक्ति के प्रति लीन होना।'** पहले, सत्पुरुष कौन है ? - यह पहचानना चाहिए। देखो, पहचान की जिम्मेदारी स्वयं की है। सत्पुरुष किसे कहा जाता है ? यह जानने का स्वयं का भाव है। अरे! दो पैसे का घड़ा लेने जाएँ तो भी ठोक-बजाकर परीक्षा करते हैं तो अनन्त काल की भ्रान्ति मिटाकर आत्मा का कल्याण प्रगट करने के लिए सत्पुरुष की परीक्षा करके पहचानना तो चाहिए। सत् अर्थात् आत्मस्वभाव; जिन्हें आत्मस्वभाव की पहचान हुई है, वे सत्पुरुष हैं। संसार के प्रति निरन्तर उदास होना और सत्पुरुष की भक्ति के प्रति लीन होना, यह दो बातें कही गयी हैं।

अब, विशेष कहते हैं - **'सत्पुरुषों के चरित्रों का स्मरण करना।'** पहले जिसका ज्ञान किया हो, उसका स्मरण किया जा सकता है। सत्पुरुष का चरित्र किसे कहा जाता है ? इसके ज्ञान बिना उनका स्मरण किस प्रकार किया जा सकता है ? सत्पुरुष का चरित्र कहाँ रहता होगा ? किसी बाहर की क्रिया में अथवा शुभाशुभराग में सत्पुरुषों का चरित्र नहीं है। बाहर में परिवर्तन न दिखने पर भी धर्मी की अन्तरदशा में रुचि का झुकाव स्वभावसन्मुख

www.vitragvani.com

हो गया है। जिस प्रकार छोटे हीरे की कीमत लाखों रुपये होती है, उसे जौहरी ही जानता है; इसी प्रकार आत्मा का चरित्र अन्तरदृष्टि से ही पहचाना जाता है।

धर्मी आत्मा का चरित्र क्या? वह शरीर की दशा में अथवा वस्त्र में नहीं है। आहारशुद्धि में अथवा वस्त्र के त्याग में भी चारित्र नहीं है, वह सब तो अज्ञानी को भी होता है। सत्पुरुष के अन्तर में क्या भेद पड़ गया है? – यह जाने बिना उनके चरित्र का ज्ञान नहीं होता। सत्पुरुष का आन्तरिक चारित्र क्या? 'अमुक गाँव में रहते थे और जवाहरात का व्यापार करते थे, जिज्ञासुओं को पत्र लिखते थे अथवा उपदेश देते थे' – क्या इसमें सत्पुरुष का चरित्र है? यह सब तो बाह्य वस्तुएँ हैं, इनमें सत्पुरुष का चरित्र नहीं है परन्तु अन्तर के स्वभाव को जानकर वहाँ स्थिर हुआ है और रागादिभावों की रुचि मिट गयी है, यही सत्पुरुषों का चरित्र है। उसे पहचानने पर ही उसका वास्तविक स्मरण होता है।

और कहते हैं कि **'सत्पुरुषों के लक्षणों का चिन्तवन करना'** 'ऐसी भाषा थी और ऐसा शरीर था' – इस प्रकार शरीर के लक्षणों से सत्पुरुष नहीं पहचाने जाते। अन्तरस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान और रमणता ही सत्पुरुष का लक्षण है। बाहर में त्याग हुआ अथवा शुभराग हुआ, वह सत्पुरुष का वास्तविक लक्षण नहीं है। जो शरीर दिखता है, वह देव-गुरु नहीं है, वह तो जड़ है; देव अथवा गुरु तो आत्मा हैं और अन्तर में श्रद्धा-ज्ञान-चारित्रस्वरूप, वही उसका लक्षण है; उस लक्षण द्वारा सत्पुरुष को पहचानने से अपना आत्मा भी वैसा होता है।

लक्षण उसे कहते हैं कि जिसके द्वारा लक्ष्य की पहचान होती

www.vitragvani.com

है। सत्पुरुष में ऐसा क्या लक्षण है कि जो दूसरों में न हो और उनमें ही हो? सत्पुरुष की आन्तरिक श्रद्धा-ज्ञान ही उनका लक्षण है; रागादि होते हैं, वह सत्पुरुष का लक्षण नहीं है। इस प्रकार लक्षण से सत्पुरुष को पहचानकर उसका चिन्तन करना चाहिए।

इस प्रकार अन्तर की बात करके, अब बाह्य की बात करते हैं। '**सत्पुरुषों की मुखाकृति का हृदय से अवलोकन करना, उनके मन-वचन-काया की प्रत्येक चेष्टा के अद्भुत रहस्य पुनः-पुनः निरीक्षण करना।**' शरीर-मन-वाणी की क्रिया तो जड़ है परन्तु उसके पीछे अनाकुलस्वभाव का श्रद्धा-ज्ञान है, उसका अद्भुत रहस्य है। मन-वचन-काया की जो प्रवृत्ति होती है, उसका कर्तापना धर्मी को मिट गया है। धर्मी को उनमें कभी सुखबुद्धि नहीं होती और कभी भेदज्ञान का अभाव नहीं होता - ऐसा ज्ञानी का अद्भुत रहस्य है, वह बारम्बार विचारणीय है। सत्पुरुष की मुखाकृति का हृदय से अवलोकन और बारम्बार उनके समागम की भावना में स्वयं को सत् समझने की रुचि है।

अब कहते हैं कि '**उनका सम्मत किया हुआ, सब सम्मत करना।**' ज्ञानियों ने क्या सम्मत किया है? आत्मा के स्वाश्रय के अतिरिक्त तीन काल में धर्म नहीं है अर्थात् स्वाश्रयभाव ही ज्ञानी को सम्मत है। पर का आश्रय करना, वह ज्ञानी को सम्मत नहीं है। आत्मा का ज्ञानस्वभाव, रागरहित है; उसकी रुचि, उसकी श्रद्धा, उसका ज्ञान और उसका आश्रय करना ही ज्ञानियों को सम्मत है। इस प्रकार पहचानकर ज्ञानियों के द्वारा सम्मत किया हुआ सब सम्मत करना।

www.vitragvani.com

शुभ अथवा अशुभरूप किसी भी पराश्रितभाव से आत्मा को धर्म होता है – ऐसी मान्यता ज्ञानियों को सम्मत नहीं है। जिस भाव से आत्मा को हानि होती है, वह एक भी भाव, ज्ञानी को सम्मत नहीं होता। ज्ञानी को आत्मा का विकाररहित स्वभाव ही सम्मत है।

देखो, एक ज्ञानी एक मार्ग बतलाये, दूसरा ज्ञानी दूसरा मार्ग बतलाये – ऐसा कभी नहीं होता। सभी सत्पुरुषों का एक ही मार्ग है। वह यह कि आत्मस्वभाव को पहचानकर, उसका आश्रय करना ही मुक्ति का पन्थ है और इसी मार्ग में समस्त ज्ञानियों की सम्मति है; इस प्रकार पहचानकर ज्ञानियों के द्वारा सम्मत किया हुआ, सर्व सम्मत करना चाहिए।

ज्ञानी के समीप सत् का श्रवण करते हुए जितना अपने को रुचे उतना मान ले और दूसरी बात नहीं रुचे तो उस जीव ने ज्ञानियों के द्वारा कहा हुआ सर्व सम्मत नहीं किया है किन्तु अपने स्वच्छन्द का पोषण किया है। देव-गुरु-शास्त्र के आश्रय से होनेवाले पुण्यभाव का आश्रय करना धर्मी को मान्य नहीं है, अपितु उसका आश्रय छोड़ना ज्ञानियों को मान्य है।

ज्ञानियों द्वारा मान्य किया हुआ सर्व मान्य करना। उसमें यदि कहीं अपनी कल्पना का स्वच्छन्द रखा तो उसने ज्ञानियों को पहचाना ही नहीं और न उनका कहना माना है। जीव ने अभी तक अपनी भ्रान्ति से ही अर्थात् अपनी दृष्टि से ही ज्ञानी को पहचाना है। यदि ज्ञानी को ज्ञानी के प्रकार से पहचाने तो उसे भेदज्ञान और मुक्ति हुए नहीं रह सकती है। ज्ञानी की पहचान करने में पर की महिमा नहीं, किन्तु अपने आत्मा की महिमा है। पहले तो अनन्त

www.vitragvani.com

काल से आत्मा की भ्रान्ति रह गयी है – ऐसा पहचानना और फिर ऊपर कहे अनुसार, पात्र होकर सत्पुरुष को पहचानना; इससे अवश्य आत्मा की भ्रान्ति मिट जाएगी।

ज्ञानी यह नहीं कहते कि तू हमारा आश्रय करके रुक जा! ज्ञानी के हृदय का रहस्य तो यह है कि तू अपने आत्मा को सिद्ध समान परिपूर्ण स्वभावरूप पहचानकर उसका आश्रय कर! सभी धर्मात्माओं ने यही सम्मत किया है और यही सम्मत करने योग्य है अर्थात् उत्साहपूर्वक माननेयोग्य है।

'यह ज्ञानियों ने हृदय में रखा हुआ निर्वाण के लिए मान्य रखने योग्य, पुनः-पुनः चिन्तवन योग्य, प्रति क्षण-प्रति समय लीन होने योग्य परम रहस्य है और यही सर्व शास्त्रों का, सर्व सन्तों के हृदय का, ईश्वर के घर का मर्म पाने का महामार्ग है।' देखो तो सही, कितनी दृढ़तापूर्वक बात की है! धर्मी जीवों ने जो मान्य किया है, वही मान्य रखना, यह परम रहस्य है। धर्मी जीवों ने क्या मान्य किया; किसका ग्रहण और किसका त्याग किया? – यह पहचाने बिना स्वयं उसकी श्रद्धा किस प्रकार करेगा और उसका चिन्तवन भी किस प्रकार करेगा?

ज्ञानियों को भलीभाँति पहचानकर, उनके मानने अनुसार आत्मा के वीतरागी स्वभाव का आश्रय करना; सर्व शास्त्रों का और सर्व सन्तों के हृदय का मर्म प्राप्त करने का यह एक ही मार्ग है। निर्वाण के लिए अर्थात् आत्मा की मुक्ति के लिए मान्य करने योग्य यही महामार्ग है तथा ईश्वर के घर का अर्थात् सर्वज्ञ भगवान के मार्ग का अथवा आत्मा के स्वभाव का मर्म प्राप्त करने का यह

www.vitragvani.com

महामार्ग है, यह आत्मा के परमपद प्रगट होने का महामार्ग है।

अब, निमित्तपने की बात करते हैं – **'और इन सबका कारण किसी विद्यमान सत्पुरुष की प्राप्ति और उनके प्रति अविचल श्रद्धा है। अधिक क्या लिखना ? त्रिकाल यह एक ही मार्ग है।'** इस प्रकार वजनपूर्वक कहते हैं कि भाई! तुझे अपने स्वरूप की ही भ्रान्ति है, उस भ्रान्ति का अभाव किये बिना छुटकारा नहीं है और उस भ्रान्ति का अभाव करने के लिए ज्ञानियों ने जो सम्मत किया है, वही सम्मत करना – यही मार्ग है। यह मार्ग सूझने पर ही सर्व सन्तों के हृदय को पाया जा सकता है तथा यहाँ विद्यमान पुरुष की प्राप्ति होने की बात कही गयी है; पूर्व में हो गये सत्पुरुष नहीं, परन्तु अपने को साक्षात् विद्यमान सत्पुरुष की प्राप्ति हो और उनके वचन का सीधा श्रवण करते हुए, उनके प्रति अविचल श्रद्धा जागृत हो तो जीव का हित होता है। यह समझे बिना सत्पुरुष को मानने की बात नहीं है परन्तु सत्पुरुष को पहचानकर जैसा वे कहते हैं, वैसे निरालम्बी निज आत्मस्वभाव की पहचान करनेवाले ने सन्तों के द्वारा माना हुआ, माना कहलाता है और यही जिनवाणी का मार्ग है।

अन्त में स्वयं को शामिल करते हुए कहते हैं कि **'सर्व प्रदेशों से मुझे तो यही सम्मत है!'** आत्मा के असंख्य प्रदेश में मुझे तो यही मान्य है। ●

[श्रीमद् राजचन्द्र के विशिष्ट वचनामृतों पर पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन]

www.vitragvani.com

विकल्प के अभावरूप परिणमन
अर्थात्
निर्विकल्प शुद्धात्मानुभव कब ?

बहुत से जीव, विकल्प का अभाव करना चाहते हैं और स्थूल विकल्प कम होने पर ऐसा मानते हैं कि विकल्प का अभाव हुआ, किन्तु वस्तुत: विकल्प का अभाव करने पर जिसका लक्ष्य है, उसे विकल्प का अभाव नहीं होता, किन्तु जिसमें विकल्प का अभाव ही है — ऐसे शुद्ध चैतन्य को लक्ष्य में लेकर एकाग्र होने पर विकल्प का अभाव हो जाता है। मैं इस विकल्प का निषेध करूँ — ऐसे विकल्प का निषेध करने की ओर जिसका लक्ष्य है, उसका लक्ष्य शुद्ध आत्मा की ओर उन्मुख नहीं है, किन्तु विकल्प की ओर उन्मुख है; इसलिए उसमें तो विकल्प की उत्पत्ति ही होती है। शुद्ध आत्मद्रव्य की ओर ढलना ही विकल्प के अभाव की पद्धति है। उपयोग का झुकाव अन्तर्मुख स्वभावसन्मुख ढलने पर विकल्प की ओर का झुकाव छूट जाता है।

'विकल्प का निषेध करूँ' — ऐसे लक्ष्य से विकल्प का निषेध नहीं होता परन्तु विकल्प की उत्पत्ति होती है, क्योंकि 'यह विकल्प है और इसका निषेध करूँ' — ऐसा लक्ष्य किया, वहाँ तो विकल्प के अस्तित्व पर जोर गया परन्तु विकल्प के अभावरूप स्वभाव तो दृष्टि में नहीं आया; इसलिए वहाँ मात्र विकल्प का उत्थान ही होता है।

'यह विकल्प है और इसका निषेध करूँ' — ऐसे विकल्प के अस्तित्व के सन्मुख देखने से उसका निषेध नहीं होता परन्तु 'मैं

www.vitragvani.com

ज्ञायकस्वभाव हूँ' — ऐसे स्वभाव के अस्तित्व के सन्मुख देखने से विकल्प के अभावरूप परिणमन हो जाता है।

पहले आत्मस्वभाव का श्रवण-मनन करके उसे लक्ष्य में लिया हो और उसकी महिमा जानी हो तो उसमें अन्तर्मुख होकर विकल्प का अभाव करे परन्तु आत्मस्वभाव की महिमा लक्ष्य में लिये बिना किसके अस्तित्व में खड़ा रहकर विकल्प का अभाव करेगा?

विकल्प का अभाव करना, यह भी उपचार का कथन है। वस्तुतः विकल्प का अभाव करना नहीं पड़ता; अन्तरस्वभाव सन्मुख जो परिणति हुई, वह परिणति स्वयं विकल्प के अभावस्वरूप है, उसमें विकल्प है ही नहीं तो किसका अभाव करना? विकल्प की उत्पत्ति न हुई, इस अपेक्षा से विकल्प का अभाव किया — ऐसा कहा जाता है परन्तु उस समय विकल्प था और उसका अभाव किया है - ऐसा नहीं है।

एक ओर त्रिकाली ध्रुव ज्ञानस्वभाव का अस्तित्व है और दूसरी ओर क्षणिक विकार का अस्तित्व है; वहाँ ध्रुव ज्ञायकस्वभाव में विकल्प का अभाव है; उस ज्ञायकस्वभाव को लक्ष्य में लेकर एकाग्र होने पर विकार के अभावरूप परिणमन हो जाता है, वहाँ 'मैं ज्ञायक हूँ और विकार मैं नहीं' — ऐसे दो पहलू पर लक्ष्य नहीं होता परन्तु 'मैं ज्ञायक' — ऐसे अस्तिस्वभाव को लक्ष्य में लेकर उसका अवलम्बन करने से विकार का अवलम्बन छूट जाता है। स्वभाव की अस्तिरूप परिणमन होने से विकार की नास्तिरूप परिणमन भी हो जाता है। स्वभाव में परिणमित ज्ञान स्वयं विकार के अभावरूप परिणमित हुआ है, उसे स्वभाव की अस्ति अपेक्षा

www.vitragvani.com

से 'सम्यक् एकान्त' कहा जाता है और स्वभाव की अस्ति में विकार की नास्ति है — इस अपेक्षा से उसे ही 'सम्यक् अनेकान्त' कहा जाता है। स्वभाव की अस्ति को लक्ष्य में लिये बिना (सम्यक् एकान्त बिना) अकेली विकार की नास्ति को लक्ष्य में लेने जाये तो वहाँ 'मिथ्या एकान्त' हो जाता है, अर्थात् उसे पर्यायबुद्धि से विकार के निषेधरूप विकल्प में एकत्वबुद्धि हो जाती है परन्तु विकल्प के अभावरूप परिणमन नहीं होता। इससे आत्मस्वभाव का-एक का ही भले प्रकार अवलम्बन करना, यही विकल्प के अभावरूप परिणमन की विधि है। *(चर्चा में से)*

तब तक आत्मा की प्रीति नहीं होती।

अरे रे! मुझे कहाँ तक यह जन्म-मरण करने हैं। इस भव-भ्रमण का कहीं अन्त है या नहीं? इस प्रकार जब तक चौरासी के अवतार का भय नहीं होता, तब तक आत्मा की प्रीति नहीं होती। 'भय बिना प्रीति नहीं' अर्थात् भव-भ्रमण का भय हुए बिना, आत्मा की प्रीति नहीं होती। सच्ची समझ ही विश्राम है। अनन्त काल से संसार में परिभ्रमण करते हुए कहीं विश्राम प्राप्त नहीं हुआ है। अब सच्ची समझ करना ही आत्मा का विश्राम है।

(पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी)

www.vitragvani.com

शुद्धात्मा के निर्विकल्प अनुभव के लिये.... लालायित शिष्य

श्री समयसार की पहली ही गाथा में आचार्यदेव ने आत्मा में सिद्धत्व की स्थापना की है कि मैं सिद्ध और तू भी सिद्ध। सिद्ध भगवान के आत्मा में और इस आत्मा में स्वभाव से कोई अन्तर नहीं है। इस बात का बहुत अपूर्वरुचि से स्वीकार करके शिष्य को स्वयं का शुद्धात्मा समझने की लालसा हुई, इससे उस शुद्धात्मा का स्वरूप जानने की जिज्ञासा से उसने प्रश्न पूछा है-हे नाथ! ऐसा शुद्धात्मा कौन है कि जिसका स्वरूप जानना चाहिए? हे प्रभो! जिस शुद्ध आत्मा को जाने बिना मैं अभी तक भटका हूँ, उस शुद्धात्मा का स्वरूप क्या है? वह कृपा करके मुझे बताओ।

— ऐसे शिष्य को शुद्ध आत्मा का स्वरूप समझाते हुए श्री आचार्य प्रभु ने छठवीं गाथा में 'ज्ञायकभाव' का वर्णन किया। वहाँ विकार और पर्यायभेद का तो निषेध किया परन्तु अभी गुणभेदरूप व्यवहार के निषेध की बात वहाँ आयी नहीं थी; इसलिए सातवीं गाथा की शुरुआत में श्री आचार्यदेव ने शिष्य के मुख में प्रश्न रखा है कि प्रभो! दर्शन-ज्ञान-चारित्र के भेद से भी इस आत्मा को अशुद्धपना आता है, अर्थात् 'आत्मा ज्ञान है-दर्शन है-चारित्र है' ऐसे लक्ष्य में लेने से भी भगवान शुद्ध आत्मा का अनुभव नहीं होता, मात्र विकल्प की उत्पत्ति होकर अशुद्धता का अनुभव होता है — तो उसका क्या करना?

देखो, शिष्य के प्रश्न में सूक्ष्मता! किसी बाहर की बात को तो

www.vitragvani.com

याद नहीं करता; शरीर की क्रिया या पुण्य-पाप की बात भी नहीं पूछता; अन्दर में गुण-गुणीभेद का विकल्प उठता है, वह भी उसे खटकता है; इसलिए उससे आगे बढ़कर शुद्ध आत्मा का निर्विकल्प अनुभव करने के लिये उसे यह प्रश्न उत्पन्न हुआ है। छठवीं गाथा में श्री गुरुजी से महाविनय और पात्रतापूर्वक ज्ञायकस्वरूप का श्रवण करके, उसका अनुभव करने के लिये अन्तरमंथन करते -करते 'मैं ज्ञायक हूँ' — ऐसा लक्ष्य में लेने लगा, परन्तु उसमें गुण-गुणी के भेद का विकल्प उत्पन्न हुआ। वहाँ अपनी शुद्धात्मा की रुचि के जोर से शिष्य ने इतना तो निर्णय कर लिया कि अभी जो यह गुण-गुणी के भेद का विकल्प उठता है, वह भी शुद्धात्मा के अनुभव को रोकनेवाला है, यह विकल्प है, वह अशुद्धता है; इसलिए वह भी निषेध करनेयोग्य है। शिष्य को रुचि और ज्ञान में इतनी तो सूक्ष्मता हो गयी है कि गुण-गुणी भेद के विकल्प से भी शुद्ध आत्मा का अनुभव पार है-ऐसा निर्णय करके उस गुण-गुणीभेद के विकल्प से भी पृथक् पड़ना चाहता है; गुण-गुणी भेद के विकल्प से भी आगे कोई अभेदवस्तु है, उसे लक्ष्य में लेकर उसका अनुभव करने के लिये अन्तर में गहरे-गहरे उतरता जाता है और यह बात श्रीगुरु के मुख से सुनने के लिये विनय से पूछता है कि प्रभो! ज्ञान, दर्शन, चारित्र के भेद से आत्मा को लक्ष्य में लेने से गुण-गुणी भेद का विकल्प उठता है और अशुद्धता का अनुभव होता है तो क्या करना?

श्री आचार्य भगवान भी शिष्य की अत्यन्त निकट पात्रता देखकर उसे शुद्ध आत्मा का स्वरूप समझाते हैं; शिष्य के प्रश्न का उत्तर देते हुए सातवीं गाथा में कहते हैं कि इस भगवान ज्ञायक एक

www.vitragvani.com

आत्मा में दर्शन-ज्ञान-चारित्र — ऐसे गुणभेद व्यवहार से ही कहे गये हैं; परमार्थ से तो भगवान आत्मा एक अभेद है। इसलिए 'एक अभेद ज्ञायक आत्मा' को लक्ष्य में लेकर अनुभव करने पर 'मैं ज्ञान हूँ' इत्यादि गुण-गुणी भेद के विकल्पों का भी निषेध हो जाता है और शुद्ध आत्मा का निर्विकल्प अनुभव होता है।

(समयसार गाथा-७ के प्रवचन में से)

प्रयत्न करके आत्मा को देहादि से भिन्न जान!

अरे! तूने दुनिया तो देखी, परन्तु देखनेवाले स्वयं को नहीं देखा! पर की प्रसिद्धि की कि 'यह है' परन्तु अपनी प्रसिद्धि नहीं की कि 'यह जाननेवाला मैं हूँ।' जाननेवाले को जाने बिना आनन्द नहीं होता। अहा! चैतन्यतत्त्व ऐसे आनन्द से भरपूर है कि जिसके स्मरणमात्र से ही शान्ति मिलती है। तब उसके सीधे अनुभव की तो बात ही क्या है!

तेरा आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द से भरपूर भगवान है, मूर्त द्रव्यों से भिन्न है, राग से पृथक् है; तू एक बार मूर्त द्रव्यों का पड़ोसी हो जा। पड़ोसी अर्थात् भिन्न; चैतन्यप्रकाश की अपेक्षा से राग भी अचेतन है, वह भी चैतन्य के साथ एकमेक नहीं; अपितु भिन्न है। शरीर और राग - इन सबको एक ओर रखकर, इस ओर सबसे भिन्न अपने चैतन्य को देख। अरे! आत्मा के अनुभव का ऐसा सरस योग और भेदज्ञान का ऐसा उत्तम उपदेश! यह सब प्राप्त करके, अब एक बार आत्मा को अनुभव में ले! प्रयत्न करके आत्मा को देहादि से भिन्न जान!

www.vitragvani.com

आत्मार्थी जीव का उत्साह और आत्मलगन

(१)

आत्मार्थी जीव की धगश कैसी होती है ? उसकी आत्मलगन कैसी होती है ? और अपना सम्यक्त्वरूपी कार्य साधने के लिये उसका उत्साह और उद्यम कैसा होता है ? – इन सबका सुन्दर और प्रेरणादायी विवेचन पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी ने इस प्रवचन में किया है।

जीवादि छह द्रव्य और पाँच अस्तिकायों का वर्णन करके, उपसंहार में उनके ज्ञान का फल दर्शाते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि—

इस रीत प्रवचनसाररूप पंचास्तिसंग्रह जानकर।
जो जीव छोड़े राग-द्वेष, पाये सकल दुःखमोक्ष रे॥

इस प्रकार प्रवचन के सारभूत पञ्चास्तिकायसंग्रह को जानकर जो राग-द्वेष को छोड़ता है, वह दुःख से परिमुक्त होता है।

प्रवचन अर्थात् भगवान सर्वज्ञदेव का उपदेश; उसमें कालसहित पाँच अस्तिकाय अर्थात् जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल – ये छह द्रव्य कहे गये हैं। भगवान सर्वज्ञदेव के प्रवचन में इन छह द्रव्यों का ही सब विस्तार है; इनसे अन्य कुछ नहीं कहा गया है। जड़-चेतन, सुख-दुःख, पुण्य-पाप, बन्ध-मोक्ष – यह सब छह द्रव्यों का ही विस्तार है; इसलिए छह द्रव्य ही उस प्रवचन का सार है। जो कालसहित पञ्चास्तिकाय को अर्थात् छह द्रव्यों

www.vitragvani.com

को स्वीकार नहीं करता है, वह भगवान सर्वज्ञ के प्रवचन को नहीं जानता है।

छह द्रव्य, भगवान सर्वज्ञदेव के प्रवचन का सार हैं। ऐसे प्रवचन के सार को जो जीव जानता है, वह दु:ख से परिमुक्त होता है परन्तु किस प्रकार जानता है? कि अर्थत: अर्थीरूप से जानता है।

'अर्थत: अर्थी' – ऐसा कहकर आचार्यदेव ने पात्र श्रोता की विशेष योग्यता बतलायी है। पात्र श्रोता कैसा है? आत्मा का अर्थी है, आत्मा के हित का वाँछक है। किसी भी प्रकार मुझ आत्मा का हित हो – अन्तर में ऐसा गरजवान हुआ है। याचक हुआ है अर्थात् हित के लिये विनय से दीनपने अर्पित हो गया है, सेवक हुआ है। जिनसे आत्मप्राप्ति हो – ऐसे सन्तों के प्रति सेवकभाव से वर्तता है और शास्त्र जानने में उसे दूसरा कोई हेतु नहीं है; एकमात्र आत्महित की प्राप्ति का ही हेतु है। शास्त्र पढ़कर मैं दूसरों से अधिक हो जाऊँ अथवा मान-प्रतिष्ठा प्राप्त कर लूँ अथवा दूसरों को समझा दूँ – ऐसे आशय से जो शास्त्र नहीं पढ़ता, परन्तु शास्त्र पढ़कर, छह द्रव्यों का स्वरूप समझकर, मैं अपनी आत्मा का हित किस प्रकार साध लूँ और मेरा आत्मा दु:ख से कैसे छूटे? इस प्रकार आत्मा का शोधक होकर जानता है।

वह आत्मा का अर्थी जीव, शास्त्र के अर्थ को किस प्रकार जानता है? कि अर्थत: जानता है अर्थात् अकेले शब्द से नहीं जानता, अपितु उसके वाच्यरूप पदार्थ को अनुलक्ष्य करके जानता है, भावश्रुतपूर्वक जानता है; अकेले शाब्दिक ज्ञान में सन्तुष्ट नहीं हो जाता, अपितु अन्तर में शोधक होकर वाच्यभूत वस्तु को शोधता

www.vitragvani.com

है; सुख का शोधक होकर पदार्थों का स्वरूप जानता है।

अहा! अर्थीरूप से जानने की बात कहकर आचार्यदेव ने श्रोता की कितनी धगश बतलायी है! स्वयं अर्थी होकर-शोधक होकर सुनने जाता है परन्तु ऐसा नहीं है कि जब सहज सुनने का योग बन जाए, तब सुन लेता है और फिर उसकी दरकार नहीं करता। यह शिष्य तो स्वयं अभिलाषी होकर, गरजवान होकर, किसी भी प्रकार मुझे मेरा स्वरूप समझना है - ऐसी अन्तरङ्ग में स्फूरणा करके समझने की गरज से सुनता है।

सम्यक्त्व की तैयारीवाले जीव को अपना कार्य साधने का बहुत उत्साह होता है। वह जीव, सम्यक्त्व के लिए उत्साहपूर्वक कैसा प्रयत्न करता है? इसका वर्णन करते हुए मोक्षमार्गप्रकाशक में कहा है कि 'जीवादि तत्त्वों को जानने के लिए कभी स्वयं ही विचार करता है, कभी शास्त्र पढ़ता है, कभी सुनता है, कभी अभ्यास करता है, कभी प्रश्नोत्तर करता है - इत्यादिरूप प्रवर्तता है। अपना कार्य करने का इसको हर्ष बहुत है; इसलिए अन्तरङ्ग प्रीति से उसका साधन करता है। इस प्रकार साधन करते हुए जब तक —

(1) सच्चा तत्त्वश्रद्धान न हो;

(2) 'यह इसी प्रकार है' - ऐसी प्रतीतिसहित जीवादितत्त्वों का स्वरूप आपको भासित न हो;

(3) जैसे पर्याय में अहंबुद्धि है, वैसे केवल आत्मा में अहंबुद्धि न आये;

(4) हित-अहितरूप अपने भावों को न पहिचाने, - तब

www.vitragvani.com

तक सम्यक्त्व के सन्मुख मिथ्यादृष्टि है। यह जीव थोड़े ही काल में सम्यक्त्व को प्राप्त होगा; इसी भव में या अन्य पर्याय में सम्यक्त्व को प्राप्त करेगा।'

आत्मार्थी जीव उल्लसित वीर्यवान है, उसके परिणाम उल्लासरूप होते हैं, अपने स्वभाव को साधने के लिए उसका वीर्य उत्साहित होता है। श्रीमद् राजचन्द्र कहते हैं कि 'उल्लसित वीर्यवान, परम तत्त्व की उपासना का मुख्य अधिकारी है।' आत्मार्थी जीव अपनी आत्मा के हित के लिए उल्लासपूर्वक श्रवण-मनन करता है। कुलप्रवृत्तिपूर्वक अथवा सुनने का सहज योग बन जाए तो सुन ले, किन्तु समझने का प्रयत्न नहीं करे तो उसे आत्मा की गरज नहीं है। इसलिए यहाँ आत्मा का अर्थी होकर शास्त्र जानने को कहा गया है। कहा भी है कि -

काम एक आत्मार्थ का, दूजा नहीं मन रोग

जिसके अन्तरङ्ग में एक आत्मार्थ साधने का ही लक्ष्य है। मेरे अनादि के भवरोग के दुःख का अभाव कैसे हो ? इसके अतिरिक्त अन्य कोई रोग अर्थात् मानादि की भावना जिसके अन्तर में नहीं है; जो शिष्य इस प्रकार आत्मा का अर्थी होकर पञ्चास्तिकायसंग्रह को जानता है, वह सर्व दुःख से परिमुक्त होता है।

जिस प्रकार कोई मनुष्य बहुत दिनों से क्षुधातुर हो और क्षुधा मिटाने के लिए याचक बनकर, मान छोड़कर भोजन माँगता है, वह अपने लिए माँगता है; दूसरों को देने के लिये नहीं। मेरी भूख का दुःख मिटे, ऐसा कोई भोजन मुझे दो - इस प्रकार याचक होकर माँगता है। ऐसे क्षुधातुर व्यक्ति को भोजन प्राप्त हो तो उसे

www.vitragvani.com

वह कैसा मीठा लगेगा? अरे! सुखी रोटियाँ मिले तो भी मीठी लगती हैं... और अत्यन्त हर्ष से अपनी क्षुधा मिटाता है।

इसी प्रकार जिस जीव को आत्मा की लगन लगी है, भूख लगी है। अरे! अनादिकाल से संसार में भ्रमण करते हुए मुझे आत्मा ने कहीं सुख प्राप्त नहीं किया, एकान्त दुःख ही पाया है। अब, दुःख से छूटकर मेरा आत्मा सुखी कैसे हो? इस प्रकार सुख के उपाय के लिये छटपटाता है; वह जीव, ज्ञानी सन्त के समीप जाकर दीनरूप से भिखारी की तरह याचक होकर विनय से माँगता है – हे प्रभु! मुझे अपनी आत्मा के सुख का मार्ग बतलाओ। इस भव दुःख से छूटने का मार्ग मुझे समझाओ। इस प्रकार जो आत्मा का गरजवान होकर आया है और उसे आत्मा के आनन्द की बात सुनने को प्राप्त हो तो वह कैसी मीठी लगेगी! उस समय वह दूसरे किसी लक्ष्य में नहीं रुकेगा, अपितु एक ही लक्ष्य से आत्मा का स्वरूप समझकर अपना दुःख मिटायेगा।

जो वास्तव में आत्मा का अर्थी होकर सुनता है, उसे श्रवण होते ही देशना अन्तर में परिणत हो जाती है। जैसे, जिसे कड़क भूख लगी हो, उसे भोजन पेट में पड़ते ही (तृप्तिरूप) परिणमित हो जाता है; इसी प्रकार जिसे चैतन्य की वास्तविक अभिलाषा जागृत हुई है, उसे वाणी कान में पड़ते ही आत्मा में परिणमित हो जाती है।

जिस प्रकार तृषातुर को शीतल पानी प्राप्त होते ही प्रेमपूर्वक पीता है; इसी प्रकार आत्मा के अर्थी को चैतन्य के शान्तरस का पान मिलते ही अत्यन्त रुचिपूर्वक झेलकर अन्तर में परिणमा देता

www.vitragvani.com

है। जैसे, कोई एकदम भरी दोपहरी में रेगिस्तान में आ पड़ा हो, प्यास से तड़पते हुए कण्ठगत प्राण हो गया हो, पानी... पानी... की पुकार करता हो और ऐसे समय में शीतल मधुर पानी प्राप्त हो तो कैसी शीघ्रता से पियेगा; इसी प्रकार विकार की आकुलतारूपी भरी दोपहरी में भवारण्य के बीच भ्रमता हुआ जीव सिक रहा है। वहाँ आत्मार्थी जीव को आत्मा की प्यास लगी है – लगन लगी है, वह आत्मा की शान्ति के लिए छटपटा रहा है। ऐसे जीव को सन्तों की मधुर वाणी द्वारा चैतन्य के शान्तरस का पान प्राप्त होते ही अन्तर में परिणमित हो जाता है।

जिस तरह कोरे घड़े पर पानी की बूँद गिरते ही वह उसे चूस लेता है; उसी प्रकार आत्मार्थी जीव, आत्मा के हित की बात को चूस लेता है अर्थात् अन्तर में परिणमित करा देता है।

आत्मार्थी जीव को अपना आत्मस्वरूप समझने के लिए इतनी गरज है कि दूसरे लोग मान-अपमान करें, उसके समक्ष देखता भी नहीं है। मुझे तो अपनी आत्मा को रिझाना है, मुझे जगत् को नहीं रिझाना है; इस प्रकार जगत् की अपेक्षा उसे आत्मा प्रिय लगा है, आत्मा से जगत् प्रिय नहीं है – ऐसी आत्मा की लगन के कारण वह जगत् के मान-अपमान को नहीं गिनता है। मुझे स्वयं समझकर अपनी आत्मा का हित साधना है – ऐसा ही लक्ष्य है परन्तु मैं समझकर दूसरों से अधिक हो जाऊँ या मैं समझकर दूसरों को समझा दूँ – ऐसी वृत्ति उसे उत्पन्न नहीं होती। देखो, यह आत्मार्थी जीव की पात्रता!

जिस प्रकार थके हुए व्यक्ति को विश्राम मिलने पर अथवा

www.vitragvani.com

वाहन आदि की सुविधा मिलने पर वह हर्षित होता है और रोग से पीड़ित मनुष्य को वैद्य मिलने पर वह उत्साहित होता है; इसी प्रकार भव-भ्रमण कर करके थके हुए और आत्मभ्रान्ति के रोग से पीड़ित जीव को थकान उतारनेवाली और रोग मिटानेवाली चैतन्यस्वरूप की बात कान में पड़ते ही, वह उत्साहपूर्वक उसका सेवन करता है। सच्चे सद्गुरु वैद्य ने जिस प्रकार कहा हो, उस प्रकार वह चैतन्य का सेवन करता है। सन्त के समीप दीन होकर भिखारी की तरह 'आत्मा' माँगता है कि प्रभु! मुझे आत्मा का स्वरूप समझाओ।

जैसे, कोई व्यक्ति, समुद्र के बीच में डूबकी खा रहा हो तो उसका एक ही लक्ष्य है कि मैं समुद्र में डूबने से कैसे बचूँ? वहाँ यदि कोई सज्जन आकर उसे बचाता है तो कैसी उपकारबुद्धि होती है? अहा! इन्होंने मुझे समुद्र में डूबने से बचाया, इन्होंने मुझे जीवन दिया, इस प्रकार महाउपकार मानता है। इसी प्रकार भवसमुद्र में गोते खा-खाकर थके हुए जीव का एक ही लक्ष्य है कि मेरा आत्मा इस संसार समुद्र से किस प्रकार बचे? वहाँ कोई ज्ञानी पुरुष उसे तिरने का उपाय बतावें तो वह प्रमादरहित होकर, उल्लसितभाव से उस उपाय को अङ्गीकार करता है।

जिस प्रकार डूबते हुए मनुष्य को कोई जहाज में बैठने के लिए कहे तो क्या वह जरा भी प्रमाद करेगा? नहीं करेगा। इसी प्रकार संसार से तिरने के अभिलाषी आत्मार्थी जीव को ज्ञानी सन्त, भेदज्ञानरूपी जहाज में बैठने को कहते हैं, वहाँ वह आत्मार्थी जीव, भेदज्ञान में प्रमाद नहीं करता और भेदज्ञान का उपाय दर्शानेवाले सन्तों के प्रति उसे महान् उपकारबुद्धि होती है कि हे नाथ! अनन्त

www.vitragvani.com

जन्म-मरण के समुद्र में से आपने मुझे बाहर निकाला। भवसमुद्र में डूबते हुए मुझे आपने बचाया। संसार में जिसका कोई प्रत्युपकार नहीं है - ऐसा परम उपकार आपने मुझ पर किया है।

इस प्रकार अर्थत: अर्थीरूप से इस पञ्चास्तिकाय को जानने को आचार्यदेव ने कहा है। अर्थत: अर्थीरूप से अर्थात् भाव समझने की लगन से, वास्तविक दरकार से, उत्साह से, रुचि से, जिज्ञासा से, गरजवान होकर, याचक होकर, शोधक होकर, आत्मा का अर्थी होकर पञ्चास्तिकाय को जानना चाहिए। इस प्रकार पञ्चास्तिकाय को जानकर क्या करना चाहिए? वह अब कहते हैं -

पञ्चास्तिकायसंग्रह को अर्थत: अर्थीरूप से जानकर, इसी में कहे हुए जीवास्तिकाय के अन्तर्गत रहे हुए अपने को/निज आत्मा को स्वरूप से अत्यन्त विशुद्ध चैतन्यस्वभाववाला निश्चित करना चाहिए।

देखो, यह शास्त्र को जानने की रीत अथवा शास्त्र को जानने का तात्पर्य!

आत्मा का अर्थी जीव, पञ्चास्तिकाय को जानकर अन्तर में यह निश्चय करता है कि मैं सुविशुद्ध ज्ञान-दर्शनमय हूँ। इस प्रकार जो अन्तर्मुख होकर सुविशुद्ध ज्ञान-दर्शनरूप अपने आत्मा को निश्चय करता है, उसे ही पञ्चास्तिकाय का यथार्थ ज्ञान है।

पञ्चास्तिकाय को जानकर क्या प्राप्त करना है? शुद्ध जीवास्तिकाय ही प्राप्त करने योग्य है। इस जगत् में पञ्चास्तिकाय के समूहरूप अनन्त द्रव्य हैं, उनमें से अनन्त अचेतनद्रव्य तो मुझ से भिन्न विजातीय हैं, वह मैं नहीं हूँ और चैतन्यस्वभाववाले

www.vitragvani.com

अनन्त जीव भिन्न-भिन्न हैं, वे सभी 'जीवास्तिकाय' में आ जाते हैं। इस प्रकार जीवास्तिकाय में अन्तर्गत होने पर भी दूसरे अनन्त जीवों से भिन्न मैं एक चैतन्यस्वभावी जीव हूँ। इस प्रकार स्वभाव सन्मुख होकर अनन्त काल में नहीं किया हुआ ऐसा आत्मा का निर्णय अपूर्व भाव से करता है। निर्णय की ऐसी ठोस भूमिका के बिना धर्म की चिनाई नहीं होती।

प्रश्न - ऐसे निर्णय का साधन क्या है ?

उत्तर - मन्दराग साधन नहीं है, अपितु ज्ञान और वीर्य का उत्साह ही उसका साधन है। ज्ञान और रुचि के अन्तर्मुख होने के उत्साह के बल से मिथ्यात्वादि प्रतिक्षण टूटते जाते हैं।

'निर्णय' यह धर्म की ठोस भूमिका है परन्तु यह निर्णय कैसा ? अकेले श्रवण से हुआ नहीं, परन्तु अन्दर में आत्मा को स्पर्श करके हुआ अपूर्व निर्णय; यह निर्णय ऐसा है कि कदाचित् देह का नाम तो भूल जाए, परन्तु निज-स्वरूप को नहीं भूलता। देह का प्रेमी मिटकर 'आत्मप्रेमी' हुआ है। वह कदाचित् देह का नाम तो भूलेगा, किन्तु आत्मा को नहीं भूलेगा। अपने ज्ञान की निर्मलता में अपना ऐसा फोटो पड़ गया है कि जो कभी भी विस्मृत नहीं होगा। जिसने ऐसा निर्णय किया है, वह राग-द्वेष का क्षय करके अल्प काल में मुक्ति प्राप्त किये बिना नहीं रहेगा।

अर्थीरूप से पञ्चास्तिकाय को जानकर क्या करना ? यही कि अपनी आत्मा को अनन्त शुद्ध ज्ञानस्वरूप निश्चित करना। देखो, पाँच में से जीव को पृथक् करके एक में लाये हैं, स्व में लाये हैं। पञ्चास्तिकाय का श्रवण करते समय भी जिज्ञासु जीव का

www.vitragvani.com

लक्ष्य तो 'मेरा आत्मा ज्ञानस्वरूप है' – ऐसा निर्णय करने का ही था। मेरा आत्मा शुद्ध ज्ञानस्वरूप है; इस प्रकार अन्तर में लक्ष्यगत करके सुना और वैसा निर्णय किया।

पञ्चास्तिकाय अर्थात् जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश को जानकर उनके विचार में अटकना नहीं है परन्तु 'मेरा आत्मा अत्यन्त विशुद्ध चैतन्यस्वभावी है' – ऐसा निश्चय/निर्णय करना है। पाँच द्रव्यों को अर्थरूप से जानने पर उसमें ऐसे जीवास्तिकाय का ज्ञान आ ही जाता है। भगवान के प्रवचन छह द्रव्यों का स्वरूप कहनेवाले हैं। उन छह द्रव्यों का स्वरूप जानकर अपने आत्मा को शुद्ध ज्ञानस्वभाव निश्चित करना ही, भगवान के प्रवचन का सार है। भगवान के प्रवचन वस्तुत: किसने जाने कहे जाएँ? जिसने अपनी आत्मा को शुद्ध ज्ञानस्वभावरूप निश्चित किया, उसने ही वास्तव में भगवान के प्रवचन को जाना। निज तत्त्व के निर्णय बिना परतत्त्व का यथार्थ ज्ञान कभी होता ही नहीं। इसलिए निज तत्त्व का निर्णय करके उसमें एकाग्र होना ही भगवान के सर्व प्रवचन का तात्पर्य है, जिसके सेवन से दु:ख का अभाव होकर सुख की प्राप्ति होती है।

जगत् के तत्त्वों को जानकर, अन्तरोन्मुख होकर अपने आत्मा को जगत् से पृथक् शुद्ध चैतन्यस्वरूप निर्णय करना, उसे मात्र विकार जितना ही मत मान लेना, किन्तु शुद्ध चैतन्यस्वरूप निर्णय करना। निर्णय के काल में विकार भी वर्तता होने पर भी, मात्र उस विकार की तरफ नहीं झुककर शुद्ध चैतन्यस्वभाव की तरफ झुकना। जिसके सेवन से दु:ख मिटकर आनन्द प्राप्त हो – ऐसा विशुद्ध चेतनस्वरूप मैं हूँ – ऐसा निश्चित करना।

www.vitragvani.com

आत्मार्थी जीव के लक्षण, श्रवण करते ही ज्ञात हो जाते हैं। आत्मा के आनन्द की बात कान में पड़ते ही आत्मार्थी का उत्साह छिपा नहीं रहता। जिस प्रकार पुत्र के लक्षण पालने से ही दिखने लगते हैं; उसी प्रकार आत्मार्थी के लक्षण आत्मा का श्रवण करते ही ज्ञात हो जाते हैं।

देखो, यहाँ सुनकर निर्णय करने पर जोर है। क्या निर्णय करना? मेरा आत्मा विशुद्ध ज्ञान-आनन्दस्वरूप है - ऐसा निर्णय करना। ऐसा दृढ़ निर्णय करना कि वीर्य का वेग उस ओर ढले बिना नहीं रहे। ऐसा निर्णय करने के पश्चात् बारम्बार उस ओर के प्रयत्न से अनुभव होता है; निर्णय के बिना पुरुषार्थ की दिशा नहीं खुलती है।

देखो, भाई! यह बात स्वयं अपने हित के लिये समझने की है। स्वयं समझकर अपना हित कर लेना, दूसरे जीव क्या करते हैं? - यह देखने के लिये रुकना मत! यह वस्तु ही ऐसी है कि जगत् के सभी जीव इसे प्राप्त नहीं कर सकते। कोई विरले ही इसे प्राप्त करते हैं। इसीलिए समयसार, गाथा 205 में आचार्यदेव कहते हैं -

रे ज्ञानगुण से रहित बहुजन, पद नहीं यह पा सके।
तू कर ग्रहण पद नियत ये, जो कर्ममोक्षेच्छा तुझे॥

ज्ञानगुण से रहित बहुत लोग इस ज्ञानस्वरूप पद को प्राप्त नहीं करते। इसलिए हे भव्य! यदि तू कर्म से सर्वथा मुक्त होना चाहता है तो नियत एकरूप ऐसे इस ज्ञानस्वभाव को ग्रहण कर। ज्ञानस्वभाव का ही अवलम्बन कर।

www.vitragvani.com

पहले अफर निर्णय होना चाहिए कि मैं ज्ञानस्वरूप हूँ और उसी का मुझे अवलम्बन करने योग्य है। दूसरा कम-ज्यादा आवे, उससे कुछ नहीं होता। कदाचित् कम आवे तो उसका खेद नहीं और अधिक आवे तो उसका अभिमान नहीं, क्योंकि जिसे आत्मा का स्वभाव आता है, उसे सब आता है और उसने भगवान के समस्त प्रवचन का सार जान लिया है।

आत्मा के अनुभव के लिए पहले ठोस भूमिका चाहिए। वह ठोस भूमिका कौन सी है ? मैं ज्ञानस्वरूप हूँ - ऐसा निर्णय ही ठोस भूमिका है। जैसे, बैठे हुए पक्षी को गगन में उड़ने के लिए नीचे ठोस भूमिका चाहिए; उसी तरह चैतन्य के चारित्र में गगन-विहार करने के लिए पहले निर्णयरूप ठोस भूमिका चाहिए। आत्मार्थी होकर अनन्त काल में नहीं किया हुआ - ऐसा अपूर्व प्रकार से, अपूर्व पुरुषार्थ से आत्मा का अपूर्व निर्णय करना ही प्रथम भूमिका है - यही धर्मनगरी में प्रविष्ट होने का दरवाजा है। इस निर्णय में राग का उत्साह नहीं, अपितु चैतन्य का उत्साह है। वह जीव, राग के भरोसे रुकता नहीं है किन्तु चैतन्यस्वभाव के भरोसे अन्तर में आगे बढ़ता जाता है और राग-द्वेष का अभाव करता जाता है। ●

[पञ्चास्तिकाय, गाथा 103 पर पूज्य गुरुदेवश्री का प्रवचन]

www.vitragvani.com

आत्मार्थी जीव का उत्साह और आत्मलगन

(२)

आत्मार्थी जीव कैसा होता है, उसकी आत्मलगन कैसी होती है और भगवान के प्रवचन में कथित पाँच अस्तिकायों को जानकर, वह अपने आत्मस्वयप का कैसा निर्णय करता है – इसका सुन्दर विवेचन इस प्रवचन में गुरुदेवश्री ने किया है।

सर्वज्ञ भगवान द्वारा कथित पञ्चास्तिकाय को 'अर्थत: अर्थीरूप से' जानने की बात कहकर आचार्यदेव ने श्रोता की विशेष पात्रता बतलायी है। अपना आत्महित साधने के लिए श्रोता को अन्तर में बहुत उत्साह और धगश है। एक आत्मार्थ साधने के अतिरिक्त अन्य कोई शल्य उसके हृदय में नहीं है। ऐसे आत्मार्थी जीव को ज्ञानी-सन्तों के द्वारा भेदज्ञान का उपदेश प्राप्त होते ही महान् उपकारबुद्धि होती है कि हे नाथ! आपने मुझे अनन्त दु:ख में से बाहर निकाला, भवसमुद्र में डूबते हुए मुझे आपने बचाया; संसार में जिसका कोई प्रत्युपकार नहीं है – ऐसा परम उपकार आपने मुझ पर किया है।

जिस प्रकार क्षुधातुर अथवा तृषातुर जीव, दीनरूप से आहार -पानी माँगता है, इसी प्रकार संसार से थका हुआ और आत्मशान्ति के लिए छटपटाता हुआ जीव, सन्तों के समीप जाकर दीनरूप से अतिविनयपूर्वक कहता है कि हे नाथ! जीव को शान्ति का उपाय बतलाओ।

www.vitragvani.com

आचार्यदेव कहते हैं कि 'हे भव्य! हे जिज्ञासु! प्रथम तो तू आत्मा का अर्थी होकर, सर्वज्ञ भगवान द्वारा कथित छह द्रव्यों को जानकर यह निर्णय कर कि मेरा आत्मा अत्यन्त विशुद्ध चैतन्यस्वरूप है। आत्मा का प्रेमी होकर यह निर्णय कर कि जगत् के पदार्थों में शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा ही मैं हूँ। अकेले श्रवण अथवा विकल्प से नहीं, अपितु अन्तर्लक्ष्य से आत्मा को स्पर्श करके अपूर्व निर्णय कर। आत्मस्वरूप का ऐसा निर्णय ही धर्म की ठोस भूमिका है।

मैं अत्यन्त विशुद्ध चैतन्यस्वभावी हूँ, इस प्रकार निजतत्त्व का निश्चय करने के बाद वह मोक्षार्थी जीव क्या करता है? जिस स्वभाव का निश्चय किया है, उसी का अनुसरण करता है और उस काल में रागादिभाव वर्तते होने पर भी उनका अनुसरण नहीं करता, अपितु उन्हें छोड़ता है। जिसने अपने शुद्धस्वभाव का निश्चय किया है – ऐसा धर्मी जानता है कि मुझमें जो यह राग-द्वेषादि विकार दृष्टिगोचर होता है, वह मेरा स्वभावभूत नहीं है, अपितु मुझमें आरोपित है। जिस क्षण राग-द्वेष वर्तते हैं, उसी क्षण विवेक -ज्योति के कारण धर्मी जीव जानता है कि मेरा स्वभाव तो शुद्ध चैतन्यमात्र है; यह राग-द्वेष तो उपाधिरूप है। यह राग-द्वेष की परम्परा मेरे स्वभाव के आश्रय से नहीं हुई है किन्तु कर्मबन्धन के आश्रय से हुई है। अब, मैं अपने स्वभाव के आश्रय से निर्मलपर्याय की परम्परा प्रगट करके इस राग-द्वेष की परम्परा का अभाव कर देता हूँ। इस प्रकार अपने स्वभाव का निश्चय करके, उसका ही अनुसरण करनेवाला जीव समस्त दुःख से परिमुक्त होता है।

अपने स्वभाव को भूलकर कर्म की ओर के झुकाव से जीव को अनादि से राग-द्वेष की परम्परा चल रही है और उन राग-द्वेष

www.vitragvani.com

से कर्मबन्ध होता है; इस प्रकार राग-द्वेष और कर्मबन्ध की परम्परा अनादि से चली आ रही होने पर भी, वह स्वभावभूत नहीं, किन्तु विभावरूप उपाधि है। धर्मी जीव अपने में उस उपाधि का अवलोकन करके अर्थात् अपनी पर्याय में वे विकारीभाव हैं - ऐसा जानकर, उसी काल में अपने निरुपाधिक शुद्धस्वभाव का निश्चय भी प्रगट वर्तता होने से, उस स्वभाव के सन्मुख झुकता जाता है और राग -द्वेष की परम्परा को मिटाता जाता है। राग-द्वेष की परम्परा मिटने से कर्मबन्धन भी छूटता जाता है और इस क्रम से वह जीव मुक्ति प्राप्त करता है।

आचार्यदेव, परमाणु का दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि स्कन्ध में रहा हुआ परमाणु जब जघन्य स्निग्धतारूप परिणमित होने के सन्मुख होता है, तब स्कन्ध के साथ के बन्धन से वह पृथक् हो जाता है। इसी प्रकार शुद्धस्वभाव के सन्मुख झुके हुए जीव को रागादि स्निग्धभाव अत्यन्त क्षीण होते जाते होने से, वह पूर्व बन्धन से छूटता जाता है और नया बन्धन नहीं होता; इसलिए उबलते हुए पानी के समान अशान्त दु:खों से वह परिमुक्त होता है।

देखो, आत्मा के अर्थीरूप से पञ्चास्तिकाय को जानने का फल! जो जीव वास्तव में आत्मा का अर्थी हुआ, उसे आत्मा की प्राप्ति हुए बिना रहती ही नहीं। पञ्चास्तिकाय को जानकर उसमें से अपने शुद्ध आत्मा को पृथक् करके अर्थात् निर्णय में लेकर, श्रद्धा-ज्ञान करके, उसमें लीन होना ही मोक्ष का उपाय है।

आचार्य महाराज कहते हैं कि कालसहित पञ्चास्तिकाय का प्रतिपादन करनेवाला यह 'पञ्चास्तिकाय' जिनप्रवचन का सार है, क्योंकि जिनप्रवचन में छह द्रव्यों का ही सब विस्तार है। छह द्रव्य

www.vitragvani.com

और उनके गुण-पर्यायों में सब समाहित हो जाता है। बन्धमार्ग -मोक्षमार्ग; हित-अहित; सुख-दुःख; जीव-अजीव; संसार-मोक्ष; धर्म-अधर्म - यह सभी छह द्रव्य के विस्तार में आ जाता है।

छह द्रव्यों में जीवास्तिकाय अनन्त हैं, पुद्गलास्तिकाय भी अनन्त हैं, धर्म-अधर्म और आकाश एक-एक हैं और कालद्रव्य असंख्यात हैं। इन द्रव्यों में से प्रत्येक द्रव्य का अस्तित्व अपने -अपने में ही परिपूर्णता पाता है। प्रत्येक जीव अथवा परमाणु अपने-अपने में स्वतन्त्र अस्तित्व से परिपूर्ण है। किसी के अस्तित्व का अंश किसी दूसरे में नहीं है। अपने-अपने गुण-पर्यायोंस्वरूप जितना अस्तित्व है, उतनी ही प्रत्येक द्रव्य की सीमा है, उतना ही उसका कार्यक्षेत्र है। कोई भी द्रव्य अपने अस्तित्व की सीमा से बाहर कुछ भी कार्य नहीं कर सकता और दूसरे के कार्य को अपने अस्तित्व की सीमा में नहीं आने देता - ऐसा ही वस्तु का स्वभाव है, जिसे सर्वज्ञ भगवान अरहन्तदेव ने प्रसिद्ध किया है।

हे जीव! अपने हित-अहित का कर्तव्य तुझमें ही है। तुझसे भिन्न पाँच अजीव द्रव्यों में अथवा अन्य जीवों में कहीं तेरा हित -अहित नहीं है; तू स्वयं ही अपने हित-अहितरूप कार्य का कर्ता है, कोई दूसरा तेरे हित-अहित का कर्ता नहीं है; अतः अब तुझे स्वयं अपना अहित कब तक करना है? अभी तक तो अज्ञान से पर को हित-अहित का कर्ता मानकर तूने अपना अहित ही किया है परन्तु अब तो 'मेरे हित-अहित का कर्ता मैं स्वयं ही हूँ, मेरा अहित मिटकर हित करने की सामर्थ्य मुझमें ही है' - ऐसा समझकर अपना हित करने के लिए तू जागृत हो जा। पर के अस्तित्व से अपने अस्तित्व की अत्यन्त पृथक्ता जानकर, अपने

www.vitragvani.com

ज्ञानानन्दस्वरूप में ढल! यही जिनप्रवचन का और सन्तों का उपदेश है; मोक्ष का उपाय भी यही है।

हे जीव! तेरा अस्तित्व तुझमें और दूसरों का अस्तित्व उनमें है। तेरे हित के लिए तुझे दूसरों के सन्मुख देखना पड़े अथवा दूसरों के कारण तुझे रुकना पड़े – ऐसा नहीं है।

प्रश्न – दूसरों की बात तो ठीक किन्तु इस देह की सँभाल के लिए तो रुकना पड़ता है न?

उत्तर – भाई! देह का अस्तित्व पुद्गल में और तेरा अस्तित्व तुझमें है। तू सँभाल रखे तो देह का अस्तित्व टिकता है – ऐसा नहीं है। जीव का अस्तित्व अपने ज्ञानादि गुणों में है, देह में नहीं और देह का अस्तित्व अजीव परमाणुओं में है, जीव में नहीं। किसी के कारण किसी का अस्तित्व नहीं है, तब फिर दूसरों के लिए रुकना पड़े – यह बात ही कहाँ रही?

अरे! कर्म के कारण रुकना पड़ता है – ऐसा भी नहीं है... कर्म का अस्तित्व पुद्गल में है और जीव का अस्तित्व जीव में है; राग का अस्तित्व भी जीव में है। जीव और कर्म दोनों का अस्तित्व ही भिन्न है, किसी के कारण किसी का अस्तित्व नहीं है।

इस प्रकार पञ्चास्तिकाय को भिन्न-भिन्न जानकर, शुद्ध चैतन्यस्वरूप निज आत्मा को पृथक् करना। इसकी मुख्यता अर्थात् प्रधानता करके, उसकी महिमा का चिन्तवन करके, उस ओर झुकना। इस जगत् के अनन्त द्रव्यों में शुद्धज्ञानरूप निज आत्मा ही मैं हूँ; इसके अतिरिक्त दूसरा कोई मेरा नहीं है – ऐसा निश्चय करके, वैसा ही अनुभव करना। जगत् के सभी सत् पदार्थों की सत्ता स्वीकार करके, स्वकीय चैतन्य सत्ता की शरण लेने की यह

www.vitragvani.com

बात है। जगत् के पदार्थों को जान-जानकर क्या करना ? यही कि अपने चैतन्यस्वभाव की शरण लेना, उसका आश्रय करना।

- **जगत् में छह प्रकार के द्रव्य हैं;**
- **उनमें एक जीव, पाँच अजीव हैं;**
- **जीव अनन्त हैं, प्रत्येक जीव ज्ञानस्वरूप है;**
- **उसमें अपना आत्मा भिन्न, ज्ञानस्वरूप है।**

इस प्रकार अपनी आत्मा को जगत् से भिन्न निश्चित करना। कैसा निश्चित करना ? विशुद्ध चैतन्यस्वभावरूप निश्चित करना।

जीव के अस्तित्व में दो पहलु : द्रव्य और पर्याय; उसमें द्रव्य तो शुद्ध एक रूप है, पर्याय में शुद्धता-अशुद्धता दोनों होते हैं। प्रथम शुद्ध द्रव्यस्वभाव का निर्णय कराया कि विशुद्ध चैतन्यस्वरूप अपने आत्मा का निर्णय करना। शुद्ध द्रव्यस्वरूप का निर्णय कराने के पश्चात् पर्याय में जो विकार है, उसका भी ज्ञान कराते हैं। शुद्ध चैतन्यस्वरूप तो अनारोपित-असली स्वभाव है और विकार तो आरोपित विभाव है। शुद्धद्रव्य का निर्णय किये बिना आरोपित विकार का ज्ञान नहीं होता।

यदि शुद्धस्वरूप के ज्ञान बिना, अकेले विकार को जानने जाए तो वह विकार को ही निज/असली स्वरूप मान लेगा; इसलिए सच्चा ज्ञान नहीं होगा। जिस प्रकार निज जीव को जाने बिना छह द्रव्य ज्ञात नहीं होते; जैसे, उपादान को जाने बिना निमित्त का यथार्थ ज्ञान नहीं होता; जैसे, निश्चय के बिना वास्तविक व्यवहार नहीं होता; इसी प्रकार शुद्धस्वरूप को जाने बिना अकेले विकार का यथार्थ ज्ञान नहीं होता - यह महा सिद्धान्त है। जिस प्रकार

www.vitragvani.com

उष्णता के समय भी पानी में शीतलस्वभाव है; उसी प्रकार पर्याय में विकार के समय भी आत्मा शुद्ध निर्विकारी चैतन्यस्वभाव है – ऐसा सर्वज्ञदेव ने कहा है।

प्रश्न – उस स्वभाव का निर्णय किस प्रकार होता है ?

उत्तर – उस स्वभाव सन्मुखता के ध्यान से ही उसका निर्णय होता है। जिस प्रकार उष्णता के समय पानी में शीतलस्वभाव है, वह स्वभाव हाथ-पैर अथवा आँख, कान, नाक, जीभ इत्यादि इन्द्रियों से ज्ञात नहीं होता तथा आकुलता, राग-द्वेष, सङ्कल्प -विकल्प द्वारा भी उसका निर्णय नहीं होता किन्तु पानी के स्वभाव सम्बन्धी ज्ञान से ही इसका निर्णय होता है; इसी प्रकार आत्मा की पर्याय में विकार वर्तता होने पर भी सर्वज्ञदेव ने आत्मा का स्वरूप शुद्धचैतन्यस्वभावी कहा है और वैसा ही ज्ञानियों ने अनुभव किया है; उस शुद्ध स्वभाव का निर्णय इन्द्रियों से अथवा मन के सङ्कल्प -विकल्पों से नहीं होता, अपितु ज्ञान को अन्तर में विस्तृत करके उस स्वभाव का निर्णय होता है। ज्ञान को अन्तर में झुकाते ही स्वभाव को स्पर्शकर ऐसा निर्णय होता है कि अहा! मेरा स्वभाव आकुलता और आतापरहित परम शान्त है, क्षणिक आकुलता मेरा परमस्वरूप नहीं है, मेरा परमस्वरूप तो आनन्द से उल्लसित है।

अरे! जीवों का लक्ष्य बाहर में दौड़ता है परन्तु अन्तर में स्व तरफ लक्ष्य नहीं जाता; इसलिए अपनी महिमा भाषित नहीं होकर पर की ही महिमा भाषित होती है। सिद्ध भगवन्त कैसे महान्! अरहन्त भगवन् महान्! सन्त-मुनिवर और धर्मात्मा महान्!! इस प्रकार उनकी महिमा गाता है परन्तु हे भाई! जिसकी महिमा तू रात-दिन गाता है, वह तू स्वयं ही है, क्योंकि सन्त कहते हैं कि

www.vitragvani.com

जैसा हमारा आत्मा, वैसा ही तुम्हारा आत्मा है; इसलिए हे जीव! तू अपने स्वभाव की महिमा को लक्ष्य में ले।

देखो, अरहन्त-सिद्ध अथवा सन्त-महात्माओं की सच्ची महिमा भी तभी ज्ञात होती है कि जब अपने स्वभाव की महिमा को समझे। सर्वज्ञ और सन्त जिस मार्ग से अन्तर में स्थिर हैं, वह मार्ग तेरा तुझमें ही है। अन्तर के चिदानन्दस्वरूप में से सहज शीतल आनन्द प्रगट करके उन्होंने आताप का नाश किया है, तू भी आताप का नाश करके सहज शीतल आनन्द प्रगट करने के लिए अपने चिदानन्दस्वरूप की तरफ जा।

हे जीव! तेरे आनन्द का अस्तित्व तेरे स्वभाव में है, बाहर नहीं। जगत् के बाह्य पदार्थों की जो कुछ परिणति होती हो, उसके साथ तुझे कुछ लेना-देना नहीं है। तेरे दु:ख में भी तू अकेला और तेरी शान्ति में भी तू अकेला है। सर्वज्ञ तेरे समीप विराजमान हों तो भी वे तेरी परिणति को सुधार दें - ऐसा नहीं है और अनेक शत्रुओं ने तुझे घेर लिया हो तो भी वे तेरी शान्ति को बिगाड़ सकें - ऐसा नहीं है। तेरे अन्तर स्वभाव के अवलम्बन बिना दूसरों से तुझे शान्ति आनेवाली नहीं है और तेरे स्वभाव के अवलम्बन से जो शान्ति प्रगट हुई है, वह किसी दूसरे से बिगड़नेवाली नहीं है। अहा! कितनी स्पष्ट वस्तुस्थिति है! तथापि अज्ञानी जीव का यह भ्रम नहीं मिटता कि बाहर से मेरी शान्ति आती है और दूसरा मेरी शान्ति को लूट लेता है।

यदि जीव इस वस्तुस्थिति को समझ ले तो अन्तर्मुख होकर अपनी शान्ति अपने अन्तर में ही शोध ले और अन्तर-शोधन से शान्ति उपलब्ध हुए बिना नहीं रहे। भगवान और सन्तों को प्रगट

www.vitragvani.com

होनेवाला शान्तरस कहाँ से प्रगट हुआ है ? अन्तरस्वभाव में शान्तरस का समुद्र भरा था, वही उल्लसित होकर प्रगट हुआ है। हे जीव! सम्यग्ज्ञान द्वारा तू भी अपनी स्वभावशक्ति को उछाल। अहो! मेरे चिदानन्दस्वभाव में ही शान्तरस का समुद्र भरा है - ऐसा विश्वास करके, उसमें एकाग्रता करना ही शान्ति का उपाय है।

मेरी शान्ति और उस शान्ति का उपाय, बाह्य इन्द्रिय-विषयों में कहीं नहीं है परन्तु अन्तर में अपने अतीन्द्रियस्वरूप में ही है। इस प्रकार पहले अपने अतीन्द्रिय चेतनस्वभाव का ज्ञान से निर्णय कर।

'मैं कौन हूँ' - ऐसे निजस्वरूप को जानने के लिए तेरे अन्तर में अतीन्द्रिय ज्ञानस्वभाव के अतिरिक्त दूसरे किसी का सहारा नहीं है। भले ही तेरे चारों ओर सन्त-मुनियों के समूह विराजमान हों तो भी तेरे अन्तरस्वभाव के आश्रय बिना तुझे शान्ति देने के लिए दूसरा कोई समर्थ नहीं है और यदि तूने अपने स्वभाव का आश्रय किया है तो फिर भले ही सारी दुनिया डूब जाए अथवा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में खलबलाहट हो जाए तो भी तेरी शान्ति को भङ्ग करने में कोई समर्थ नहीं है। इस प्रकार जगत् से भिन्न अपने अस्तित्व को जानकर और अपनी शान्ति का परिणमन अपने अन्तर-साधन के आधीन है - ऐसा भान करके जो जीव अपने अन्तर में प्रयत्न करता है, वह परमशान्तरस प्रगट करके सर्व दु:खों से मुक्त होता है।

जिस प्रकार उबलता हुआ पानी खौलता रहता है, वह जरा भी शान्त नहीं रहता; इसी प्रकार इस संसार में जीव दु:खों से खौल रहा है, उसे किञ्चित् भी शान्ति नहीं है - ऐसे संसार-दु:ख का जिसे अन्तर में त्रास लगता हो और किसी भी प्रकार से उनसे छूटकर

www.vitragvani.com

शान्ति प्राप्त करना चाहता हो, वह जीव वास्तविक आत्मार्थी होकर शान्ति का उपाय खोजता है। आत्मा की शान्ति के लिए गरजवान हुआ जीव, प्रथम तो जगत् में कैसे-कैसे तत्त्व हैं ? - उन्हें जानता है और उनमें स्वयं कौन है ? - यह भी जानता है; फिर अपना वास्तविक शुद्धस्वभाव क्या है ? - यह निश्चय करके, अन्तरस्वभाव सन्मुख होता है; इस प्रकार वह जीव, शान्ति प्राप्त करता है।

देखो, जब अपने अन्तरस्वभाव सन्मुख होकर उसके अतीन्द्रिय शान्ति के अंश का वेदन हुआ, तब उस जीव ने जाना कि अहा! ऐसी शान्तिस्वरूप ही मेरा आत्मा है। यह जो शान्ति का वेदन हुआ, वह मेरे स्वभाव में से ही आयी है और मेरा सम्पूर्ण स्वभाव ऐसी शान्ति से भरपूर है। यह जो राग-द्वेषादि विकारीभाव वेदन में आते हैं, वह वेदन मेरे स्वभाव में से नहीं आया है, वह तो मुझमें आरोपित है। विकार मेरा स्वभावभूत नहीं है, अपितु उपाधिरूप है। इस प्रकार वेदन के स्वाद की भिन्नता से विकारीभाव उसे अपने स्वभाव से स्पष्ट भिन्न ज्ञात होते हैं; इस कारण ज्ञानी को उस क्षण में विकार वर्तता होने पर भी सम्यग्ज्ञानरूप विवेकज्योति भी साथ ही साथ वर्त ही रही है। एक ओर शान्तरस के समुद्र समान शुद्ध स्वभाव को जानता है और दूसरी ओर मलिन जल के डबरे/गड्ढे के समान विकार को जानता है। इस प्रकार दोनों को जानता हुआ, विकार की तुच्छता जानकर, उसे तो छोड़ता जाता है और शुद्धस्वभाव की महिमा जानकर, उसमें झुकता जाता है। इस उपाय से अल्प काल में ही समस्त दु:खों का नाश करके, वह जीव परम आनन्दस्वरूप मुक्ति को प्राप्त करता है। ●

[पञ्चास्तिकाय, गाथा 103 पर पूज्य गुरुदेवश्री का प्रवचन]

www.vitragvani.com

आत्मार्थी जीव का उत्साह और आत्मलगन

(३)

चैतन्य के आनन्द में झूलती दशा में सन्तों ने इन शास्त्रों की रचना की है। अन्तर में आनन्द की झलक बताकर जगत को सावधान किया है कि अरे जीवों! रुक जाओ... बाहर में तुम्हारा आनन्द नहीं है, तुम्हारा आनन्द तुम्हारे अन्तर में है। आहा! बाह्य वेग में दौड़ते जगत को ललकार कर सन्तों ने रोक दिया है; और यह बात झेलनेवाला जीव कैसा है? – वह तो इस प्रवचन में स्वयं ही कहेंगे।

आत्मा में मोक्ष की झलक लेकर और आत्मार्थी जीवों को हित का मार्ग दर्शाने के लिए सन्तों ने इन शास्त्रों की रचना की है। वे सन्त, क्षण भर में अन्तर में स्थिरता करके आनन्द में लवलीन हो जाते हैं और किञ्चित् बाहर आने पर शुभवृत्ति उत्पन्न हों, तब शास्त्र लिखते हैं.... इस प्रकार चैतन्य के आनन्द में झूलती दशा में सन्तों ने इन शास्त्रों की रचना की है। अन्तर की आनन्द की झलक बतलाकर, जगत् को सावधान किया है कि अरे जीवों! रुक जाओ... बाहर में कहीं तुम्हारा आनन्द नहीं है; तुम्हारा आनन्द तुम्हारे अन्तर में है। अहा! बहिर्मुख दौड़ते हुए जगत् को सावधान करके सन्तों ने रोक दिया है।

देखो, यह बात झेलनेवाला जीव कैसा है? आत्मार्थी है, आत्मार्थ के लिए मर जाने को तैयार है। 'काम एक आत्मार्थ का

www.vitragvani.com

दूजा नहीं मनरोग' अर्थात् अपना आत्मार्थ साधने के अलावा, जिसके अन्तर में दूसरी कोई मानादिक की शल्य नहीं है, दुनिया अपने को माने या न माने, इसकी उसे दरकार नहीं है। जगत् में दूसरों का सम्बन्ध रहे या न रहे, इसके समक्ष वह देखता भी नहीं है। एकाकी होकर भी अपने आत्मा को ही साधना चाहता है - ऐसा आत्मार्थी जीव, ज्ञानी-सन्तों के चरण की अतिशय भक्तिपूर्वक यह बात झेलता है।

जिसे ऐसी आत्मार्थिता होती है, उसे अन्तर में आत्मा समझानेवाले के प्रति कितना प्रमोद, भक्ति, बहुमान, उल्लास और अर्पणता का भाव होता है! वह आत्मा समझानेवाले के प्रति विनय से अर्पित हो जाता है... अहो नाथ! आपके लिए मैं क्या-क्या करूँ? इस पामर पर आपने अनन्त उपकार किया... आपके उपकार का बदला मैं किसी प्रकार चुका सकूँ - ऐसा नहीं है।

जिस प्रकार किसी को फुँफकारता हुआ भयङ्कर सर्प, फन ऊँचा करके डस ले, तब जहर चढ़ने से आकुल-व्याकुल होकर वह जीव तड़पता हो, वहाँ कोई सज्जन गारूड़ी मन्त्र द्वारा उसका जहर उतार दे तो वह जीव उस सत्पुरुष के प्रति कैसा उपकार व्यक्त करेगा? अहा! आपने मेरा जीवन बचाया, दुःख में तड़पते हुए मुझे आपने बचाया, इस प्रकार उपकार मानता है।

इसी प्रकार बाह्य विषयों से और रागादि कषायों से लाभ मानकर, जीव को अनन्तानुबन्धी क्रोध द्वारा फुँफकारते हुए मिथ्यात्वरूपी महाफणधर सर्प ने डस लिया है और वह जीव आकुल-व्याकुल होकर खौलते हुए पानी की तरह दुःख में तड़प

www.vitragvani.com

रहा है। संसार-भ्रमण के दु:खों में सिकता हुआ, आकुल-व्याकुल होकर हाथ-पैर मारता है। वहाँ धर्मात्मा सन्त, ज्ञानरूपी गारूढी मन्त्र द्वारा उसका जहर उतार देते हैं और उसे दु:ख से छूटने का उपाय बताते हैं। उपाय प्राप्त करके उस जीव को सन्तों के प्रति कितना उपकार आता है! अहा नाथ! आपने मुझे जीवन दिया... अनन्त दु:ख से तड़पते हुए मुझे आपने उभारा... सर्प के जहर से बचानेवाले ने तो एक बार मरण से बचाया, परन्तु हे भगवान! आपने तो मुझे अनन्त जन्म-मरण के दु:खों से बचाया है।

देखो, इस प्रकार के वास्तविक उपकार का भाव कब जगता है? जबकि सन्तों के द्वारा बताया गया मार्ग अपने आत्मा में प्रगट करे तब।

मोक्ष के साधक वीतरागी सन्तों ने जो मोक्ष का उपाय बताया है, वह मोक्षार्थी जीव को ही परिणमित हो सकता है। जो जीव, विषय-कषाय का और मानादिक का अर्थी हो, उसे अन्तर में मोक्ष का उपाय परिणमित नहीं होता; जो जीव मोक्षार्थी है, उसके लिए ही सन्तों का उपदेश है। समयसार, गाथा 18 में आचार्य कुन्दकुन्ददेव कहते हैं कि -

जीवराज को यों जानना, फिर श्रद्धना इस रीति से।
उसका ही करना अनुचरण, फिर मोक्ष अर्थी यत्न से॥ ८॥

मोक्षार्थी जीव को क्या करना चाहिए? यह इसमें बताया है। इसी प्रकार समयसार, कलश 185 में भी कहते हैं कि -

मोक्षार्थी इस सिद्धान्त का सेवन करें कि मैं तो सदा शुद्ध चेतन्यमय एक परम ज्योति ही हूँ और जो यह भिन्न लक्षणवाले विविध प्रकार के भाव प्रगट होते हैं, वे मैं नहीं हूँ क्योंकि वे सभी मेरे लिए परद्रव्य हैं।

www.vitragvani.com

इस प्रकार शास्त्रों में मोक्षार्थी जीव के लिए ही सन्तों का उपदेश है।

यहाँ भी यही कहते हैं कि अर्थत: अर्थी होकर, इस शास्त्र को जानना और इसमें कहे गये पदार्थों में से 'अत्यन्त विशुद्ध चैतन्यस्वरूप जीव ही मैं हूँ' - ऐसा निश्चय करना।

जगत् में समस्त पदार्थों का अस्तित्व होने पर भी, किसी एक की सत्ता दूसरे में नहीं है, सभी द्रव्य अपने-अपने स्वरूप-मर्यादा में वर्त रहे हैं; अपने स्वरूप की मर्यादा का उल्लंघन करके कोई द्रव्य पर में नहीं जाता है। जीव अपने स्वरूप की (विकार की अथवा अविकार की) मर्यादा छोड़कर पर में नहीं जाता और जीव की स्वरूप-मर्यादा में परद्रव्य नहीं आते। अब तदुपरान्त जीव के शुद्ध चैतन्यस्वरूप में विकार का भी प्रवेश नहीं है, विकार तो बहिर्लक्ष्यी उपाधिरूप भाव है, शुद्ध चैतन्य के साथ उसकी एकता नहीं हो सकती।

देखो, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप जो निर्मलभाव प्रगट होता है, वह तो जीव के स्वरूप में अभेद हो जाता है; इसलिए उसे तो जीव कहा है परन्तु विकल्पभावों को जीव के शुद्धस्वरूप के साथ अभेदता नहीं होती; इसलिए शुद्धस्वरूप की दृष्टि से वे जीव नहीं, किन्तु अजीव हैं। पर्याय अपेक्षा से देखने पर विकार, निश्चय से अर्थात् अशुद्धनिश्चय से अपना ही है, वह अपना ही अपराधभाव है और शुद्ध द्रव्यस्वभाव की दृष्टि से देखने पर अर्थात् शुद्ध निश्चयनय से विकार, जीव में दिखता ही नहीं; जीव तो शुद्ध चैतन्यस्वरूप ही दृष्टिगोचर होता है। इस प्रकार दोनों पहलुओं का

www.vitragvani.com

ज्ञान कराकर, आचार्यदेव कहते हैं कि तेरे शुद्धस्वभाव को मुख्य रूप से लक्ष्य में लेकर, उसकी आराधना कर... और अशुद्धता को गौण करके, उसका आश्रय छोड़।

व्यवहार को उस काल में अर्थात् जब पर्याय को जानते हैं, उस काल में जाना हुआ प्रयोजनवान कहा है परन्तु उसका आश्रय करने के लिए नहीं कहा है। जब पर्याय को देखते हैं, उस काल में साधक को विकार अपने में आरोपित हुआ, ज्ञान में आता है परन्तु विकार अनुभव में आने पर भी उसी काल में साथ ही शुद्ध चिदानन्दस्वभाव का भान भी वर्तता होने से, वह साधक विकार से विमुख होकर शुद्धस्वरूप में ढलता जाता है अर्थात् स्वभाव और विभाव में निरन्तर भेदज्ञान वर्तता होने से, वह साधक, रागादि परिणति को शुद्धस्वरूप रूप से कभी अङ्गीकार नहीं करता; अपितु उसे परभावभूत उपाधि जानकर छोड़ता जाता है। रागपरिणति छूटने से कर्मबन्धन की अनादि की परम्परा टूट जाती है।

अनादि से रागपरिणति से कर्म का बन्धन और उसके उदय के समय पुनः रागपरिणति और फिर से कर्म का बन्धन – ऐसी परम्परा अभिच्छिन्नधारा से चल रही थी, किन्तु अब जिसकी परिणति स्वभावसन्मुख हो गयी है – ऐसे जीव को रागादि परिणति छूट जाने पर कर्मबन्धन की परम्परा भी छूट जाती है, उसे नवीन कर्म का संवर होता जाता है और पुराने कर्म झरते जाते हैं; इस प्रकार समस्त कर्मों से विमुक्त होता हुआ वह जीव, दुःख से परिमुक्त होता है। दुःख कैसा है? खौलते पानी के समान, अशान्तरूप है।

अन्तर्मुख स्वभाव में सुख है और बाह्य विषयों में खौलते हुए

www.vitragvani.com

पानी के समान दुःख है... परन्तु भ्रान्ति के आवेश में भूले हुए जीव, स्वभाव की शान्ति से तो दूर भागते हैं और बाह्य विषयों के दुःख में दौड़कर, व्याकुलित होते हैं। जिस प्रकार भ्रान्ति के आवेश में पड़ा हुआ मृग, विपरीत दिशा में दौड़ता है; उसी प्रकार अज्ञानी जीव की दशा हो रही है।

एक दिशा में मृग को पकड़ने के लिए किसी शिकारी में जाल बिछाया हो और यह देखकर कोई दयालु महाजन, उस मृग को बचाने के उद्देश्य से उसे दूसरी दिशा में जाने के लिए संकेत करता है, वहाँ भ्रान्तिवश, वह मृग उस बचानेवाले को ही मारनेवाला समझकर, उससे डरकर विपरीत दिशा में अर्थात् जिस दिशा में जाल बिछा है, उसी दिशा में दौड़ता है और अन्त में जाल में फँस जाता है।

इसी प्रकार मोह की भ्रान्ति के वश पड़ा हुआ, मृग के समान अज्ञानी प्राणी अनादि से ही विपरीत दौड़ कर रहे हैं और बाह्य बिषयों में - राग में सुख मान-मानकर, उसी में दौड़ रहे हैं। ज्ञानी महाजन करुणापूर्वक उन्हें बिषयों से परान्मुख करके स्वभावसन्मुख करते हुए कहते हैं - अरे प्राणियों! बाह्य बिषयों की सन्मुखतारूप वृत्ति में सुख नहीं है, उसमें तो आकुलता की खलबलाहट है। अरे! व्यवहार की शुभवृत्ति में भी सुख नहीं है, उसमें भी आकुलता की खलबलाहट है; इसलिए इन बाह्य वृत्तियों से परान्मुख होओ... वापिस मुड़ो... और अन्तर के चिदानन्दस्वभाव में सुख है, उसमें अर्न्तमुख होओ... अर्न्तमुख होओ!

अब, वहाँ जो जीव जिज्ञासु है, आत्मार्थी है, वह तो ज्ञानी

www.vitragvani.com

सन्तों की ऐसी ललकार सुनकर रुक जाता है और अन्तर में विचार करके उसका विवेक करता है कि अहा! यह बात परमसत्य है, यह मेरे हित की बात है, किन्तु जो जीव भ्रान्ति के वश पड़ा है, जिसकी विचारशक्ति तीव्र मोह के कारण कुण्ठित हो गयी है – ऐसा जीव तो हितोपदेशक को भी अहितरूप समझकर 'यह तो हमारा व्यवहार भी छुड़ाते हैं' इस प्रकार उनसे भय खाकर, विपरीत दिशा में ही अर्थात् रागादि और बाह्य बिषयों में ही दौड़ता है और भव-भ्रमण के जाल में फँसकर दु:खी होता है। अपने हित का विचार करके, जो जीव स्वभावसन्मुख होता है और परभाव की परिणति से परान्मुख होता है, वह जीव, दु:ख से छूटकर, परम आनन्द को प्राप्त करता है।

देखो, आचार्यदेव ने इस एक गाथा में बहुत-सी बातें बतला दी हैं। आत्मार्थता से लेकर मोक्ष तक की बातें इसमें समझायी हैं। प्रथम तो जिसमें कालसहित पाँच अस्तिकाय का वर्णन हो, वही जिनप्रवचन है। मोक्षार्थी जीव उस जिनप्रवचन में कहे हुए द्रव्यों को जानता है; 'अर्थी होकर जानता है' अर्थात् आत्मा का हित प्राप्त करने की वास्तविक गरज से जानता है; 'अर्थत: जानता है' अर्थात् मात्र शब्दों की धारणा से नहीं किन्तु उनकी भाव-भासनपूर्वक जानता है। समस्त पदार्थों को जानकर, उनमें रहे हुए अपने आत्मा को पृथक् करके यह निश्चय करता है कि शुद्ध चैतन्यस्वरूप स्ववस्तु है, वही मैं हूँ – ऐसा निश्चय करके स्वभावसन्मुख ढलता है। अपने आत्मा में भी रागादि अशुद्धभावों के पहलु का आदर न करके, शुद्धस्वरूप का आदर करता है। पर्याय में विकार होने पर भी, उसी समय विवेकज्योति के बल से शुद्धस्वरूप में ढलता है

www.vitragvani.com

और रागादि परिणति को छोड़ देता है। तात्पर्य यह है कि निजस्वभाव को छोड़ता नहीं और परभाव का ग्रहण नहीं करता।

यद्यपि उस जीव को राग के काल में भेदज्ञान वर्तता है परन्तु कहीं राग के कारण वह भेदज्ञान नहीं है। राग के साथ ही वर्तते हुए भेदज्ञान के कारण साधक जीव, उस राग में अभेदता न करके, शुद्धस्वभाव में अभेदता करता जाता है और राग को छोड़ता जाता है। रागरूपी चिकनाहट के छूटने पर कर्म भी छूट जाते हैं। जिस प्रकार परमाणु में स्पर्श की स्निग्धता इत्यादि जघन्य हो जाने पर वह परमाणु स्कन्ध से पृथक् हो जाता है; उसी प्रकार स्वभावसन्मुख झुके हुए जीव को रागादिरूप स्निग्धता छूट जाने से वह जीव, कर्मबन्धन से छूट जाता है।

श्रोता किसलिए सुनता है ? सुनकर आत्मस्वरूप की प्राप्ति करने के उद्देश्य से सुनता है। जैसा आत्मस्वरूप सुनता है, वैसा ही श्रद्धा-ज्ञान-अनुभव में लेने का उद्यम करता है; उद्यमपूर्वक अर्न्तस्वरूप में एकता करके, कर्म के साथ का एकत्व तोड़ देता है। राग-द्वेषपरिणति द्वारा कर्मबन्ध की परम्परा चलती थी परन्तु जहाँ अन्तर्मुख होकर राग-द्वेषपरिणति को तोड़ दिया, वहाँ पुराने और नये कर्मों के बीच की सन्धि टूट गयी अर्थात् कर्म की परम्परा रुक गयी और वह जीव संसार दुःख से परिमुक्त हुआ।

जीव, स्वभाव के साथ एकत्व से कर्म के साथ एकत्व तोड़कर उनकी परम्परा को छेद देता है। ऐसा नहीं है कि पुराने कर्म, नये बन्ध का कारण हुआ ही करे। जब जीव, राग-द्वेषपरिणति द्वारा कर्म के साथ जुड़ता है, तब ही कर्म की परम्परा चालू रहती है

www.vitragvani.com

परन्तु यदि अपनी परिणति को स्वभाव के साथ जोड़कर, राग-द्वेष को छोड़े तो कर्म की परम्परा टूट जाती है। जिस प्रकार परमाणु अपने स्वरूप में एकाकीरूप वर्तता है; उसी प्रकार स्वरूप में एकत्वरूप से लगा हुआ जीव भी राग-द्वेषरहित होता हुआ, कर्मबन्धरहित होकर एकाकीरूप अर्थात् मुक्तदशारूप परिणमित होता है।

नियमसार में कहते हैं कि जड़स्वरूप पुद्गल की स्थिति, पुद्गल में ही है – ऐसा जानकर वे सिद्ध भगवन्त अपने चैतन्यात्मक स्वरूप में क्यों नही रहेंगे ? वहीं और भी कहा है कि यदि परमाणु एक वर्णादिरूप प्रकाशित निजगुण समुह में है तो उससे मेरी कुछ कार्यसिद्धि नहीं है। इस प्रकार निजहृदय में मानकर, परम सुखपद का अर्थी भव्य समूह, शुद्ध आत्मा को एक को भजो।

जिस प्रकार परमाणु जघन्य स्निग्धतारूप परिणमित होता है, तब वह स्कन्धरूप बन्ध से भिन्न हो जाता है; इसी प्रकार आत्मा भी परमात्मभावना की उग्रता द्वारा एकत्वस्वरूप में परिणमता हुआ कर्मबन्धन से भिन्न हो जाता है। इस प्रकार एक परमाणु और सिद्धपरमात्मा की तरह जो जीव अपने एकत्वस्वरूप में वर्तता है, उसे नवीन बन्धन नहीं होता और पूर्व में बँधे हुए कर्म भी छूट जाते हैं; इसीलिए वह अशान्त दु:खों से मुक्त हो जाता है।

जिस प्रकार शीतल जल तो शान्त होता है परन्तु वह ऊष्ण होने पर खौलने लगता है और अशान्त हो जाता है; इसी प्रकार शान्त जल से भरे हुए चैतन्यसरोवर भगवान आत्मा में राग-द्वेष की ऊष्णता होने पर दु:ख के बुलबुले उत्पन्न होते हैं, अशान्ति होती है;

www.vitragvani.com

चैतन्यस्वभाव की भावना से राग-द्वेष शान्त हो जाने पर जीव उन अशान्त दुःखों से मुक्त होता है और अतीन्द्रिय शान्ति-आनन्द का अनुभव करता है - यह पञ्चास्तिकाय के अवबोध का फल है।

जो जीव, शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मस्वभाव का निश्चय करके उसके सन्मुख होकर वर्तता है, वह जीव, बन्धनरहित होकर, दुःख से मुक्त होकर परम आनन्द को पाता है। अनादि से स्वरूप की सन्मुखता किये बिना जीव महादुःख में जल रहे हैं। जिस प्रकार उफनते हुए तेल में शकरकन्द सिकता है; उसी प्रकार घोर दुःख के गढ्ढे में राग-द्वेष-मोह से जीव आकुलित हो रहे हैं; उस दुःख से मुक्त होने की रीति आचार्यदेव ने इस 103 वीं गाथा में बतलाई है।

जो वन-जङ्गल में बसनेवाले महान सन्त हैं, जो विदेहक्षेत्र में जाकर भगवान सीमन्धर परमात्मा की वाणी सुनकर आये हैं, जिनके चारित्र का पावर प्रस्फुटित हुआ है और जो चैतन्य के आनन्द में झूला झूल रहे हैं - ऐसे भगवान कुन्दकुन्द आचार्यदेव का यह कथन है। जो जीव, आत्मार्थी होकर समझेगा, वह दुःख से परिमुक्त होकर परमानन्द को प्राप्त करेगा। ●

[पञ्चास्तिकाय, गाथा 103 पर पूज्य गुरुदेवश्री का प्रवचन]